卐 ओ३म् 卐

# जन ज्ञान

मासिक

अक्टूबर: १९७६

कार्तिक: २०३३

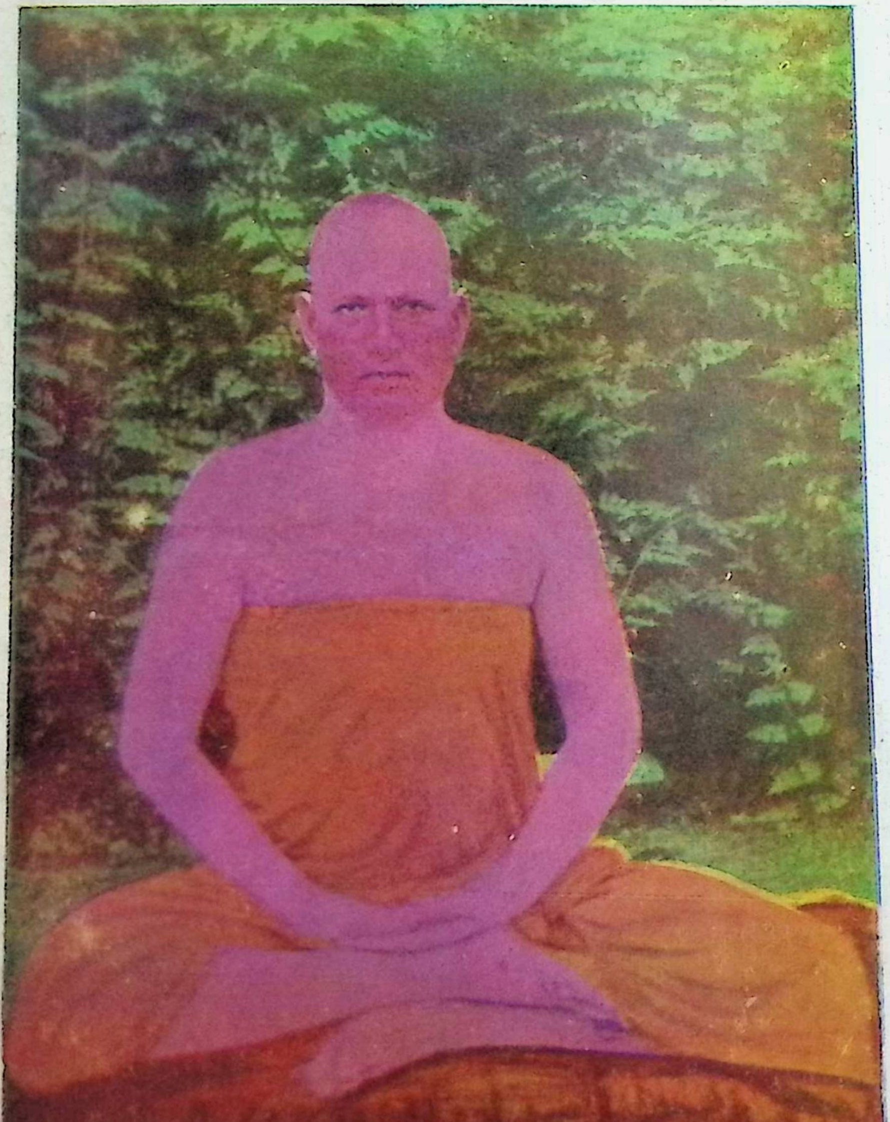

युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती का

वास्तविक चित्र

जिसकी असली फोटो हमारे पास है—सम्पादक

ओ३म्

दयानन्द संस्थान
नई दिल्ली का प्रकाशन

जन - ज्ञान

मासिक

□

संपादक

राकेश रानी

सह-संपादक

सुमेधा स्नातिका

दूरभाष : ५६६६३९

□

पता

१५६७, हरध्यानसिंह मार्ग
[निकट ३१ नाईवाला]
करौल बाग, नई दिल्ली
११०००५

वार्षिक मूल्य १५)
विदेश में ३ पौंड
(हवाई डाक से)
२ पौंड : समुद्री डाक से
(आजीवन २५१)

वर्ष ७ : अंक ६
कार्तिक संवत् २०३३
अक्तूबर : १९७६

# अपने गुरु से देवता से !

श्रद्धांजलि कैसे दूं तुमको,
मन मन्दिर अंधियारा
श्रद्धा का है लेश नहीं कुछ,
कर्म नहीं है प्यारा।

केवल शब्दों की माला है,
भाव-भावना रूठी।
लक्ष्य तुम्हारा समझ न पाया,
सत्य साधना छूटी।

मेरे ऋषिवर! भूल गया मैं,
मंजिल अपनी भाव महान्।
भटक रहा हूँ मोह वाद में,
पता नहीं पथ, हूं अनजान।

अंधियारे में आज उजाला,
माँग रहा मुझसे वरदान।
नव जीवन का युग परिवर्तन
पूर्ण करूंगा कैसे काम ?

तुम जीवन की सबल प्रेरणा,
तुम नेता, शाश्वत अभियान।
तुम मेरे आदर्श देवता,
तुम-सा मिला नहीं इन्सान।

इसीलिए मैं दीप जलाकर,
सोच रहा हूँ इन दीपों से।
कैसे ज्योतिर्मय हो पाएगा,
भुवन धरा का इन दीपों से।

प्रभु की वाणी अंतरतल में,
गूंज रही बन जीवन प्राण।
उसके ज्योतिर्मय प्रकाश का,
कैसे तानूं नयी वितान ?

प्रभु चरणों में अर्पित जीवन;
भाव तुम्हारे स्मृति मंदिर में।
कर्म तुम्हीं से सीख रहा हूं,
कैसे जीवन ज्योति जलाऊं।
कैसे सब-कुछ भेंट चढ़ा दूं।

—भारतेन्द्र नाथ

# भारी संख्या में मंगाकर प्रचार

१. **सामवेद भाष्य**

पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड का अनुपम आध्यात्मिक भाष्य ।

सुनहरी जिल्द २५)

२. **वैदिक-गीता भाष्य**

स्व० पं० आर्यमुनि कृत यह गीता भाष्य आज तक के सभी गीता भाष्यों में सर्वश्रेष्ठ है । १५)

३. **वेदांजलि**

३६५ मंत्रों का भाष्य, प्रतिदिन के स्वाध्याय के लिए अनुपम । सजिल्द मूल्य १५)

४. **अपने प्रभु से-प्रार्थना**

आर्याभिविनय के प्रथम भाग की विस्तृत व्याख्या । श्री ज्ञानी पिन्डीदास जी के परिश्रम व स्वाध्याय का परिणाम । सजिल्द मूल्य १०)

५. **श्रीमद्दयानन्द प्रकाश : स्वामी जी का भक्तिपूर्ण जीवन**

स्वामी सत्यानन्द जी की लेखनी का प्रसाद जिसे पढ़कर आप भाव विभोर हो जाएंगे । ८)

६. **वेदामृत**

वेद मंत्रों का अर्थ सहित संग्रह। स्वामी वेदानन्द जी महाराज व पं० श्रीपाद दामोदर जी सातवलेकर द्वारा लिखित वेद मंत्रों का सारगर्भित अनुपम भाष्य विषयवार । मू० सजिल्द ८)

७. **अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र**

स्वामी ब्रह्ममुनि जी का खोजपूर्ण अतुलनीय ग्रन्थ । सजिल्द १०)

८. **अथर्ववेदीय मंत्र विद्या**

स्वामी ब्रह्ममुनि जी की अथर्ववेद में खोजों का अनुपम ग्रंथ । सजिल्द मूल्य ६)

९. **वेदों का यथार्थ स्वरूप**

वेद क्या हैं और क्या है उनका सत्य रूप : यह इस पुस्तक में पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड ने गागर में सागर के रूप में भर दिया है । सजिल्द मूल्य १०)

१०. **संक्षिप्त महाभारत**

महाभारत का सार संक्षेप में उपस्थित है इस ग्रंथ में । मूल्य सजिल्द १०)

**रेलवे स्टेशन लिखें । १/४ धन अग्रिम भेजें ।**

प्रबन्धक

## जन-ज्ञान प्रकाशन

वेद मन्दिर, हरध्यानसिंह मार्ग, नई दिल्ली-५

...सभी दीपक जलाते हैं, हम भी। पर उस दिन मन ...याद आता है वह समय जब भारत का भाग्य देवता ह... रूठ गया था, और हम अपने ही हाथों छले गए थे।

गुरुदेव देव दयानन्द सा और कोई मनुष्य इतिहास के पृष्ठों में दिखाई नहीं देता। वे सर्वतोन्मुखी क्रांति के निर्देशक, मानव मात्र के उद्धारक और प्यार के देवता थे।

उन्होंने कोई नया मत नहीं चलाया, अपितु संसार के सभी मत-वाद वर्ग, जाति-भेद के विरुद्ध सबल स्वरों में युद्ध घोषणा की। मनुष्य को मनुष्य बनाना उनके जीवन का उद्देश्य था देश काल की सीमाओं से परे रहकर उन्होंने उसी शाश्वत सत्य का उद्घोष किया जिसे आदि सृष्टि में स्वयं प्रभु ने प्रदान किया था।

दयानन्द क्या थे? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है, हम इतना ही कह सकते हैं कि वे क्या नहीं थे। योगी, दार्शनिक, संत समाज सुधारक, शास्त्रार्थ महारथी, नेता, क्रांतदर्शी, युग निर्माता और प्यार के देवता के रूप में उनकी छवि हमारे रोम-रोम में बसी है।

संसार का पिछले १०० वर्षों का इतिहास दयानन्द की प्रतिभा से प्रेरित रेखाचित्र है। उनके स्वप्नों को मूर्त रूप देने में तो अभी समय लगेगा, लेकिन जिस दिन दयानन्द का सपना पूरा होगा उस दिन धरतीपर साकार स्वर्ग थिरकेगा और हम कह सकेंगे कि आज हम सुखी हैं, आनन्द में हैं।

इस दिन को आपभी मनाएंगे, भाषण भी देंगे। पर ५ मिनट के लिए एकान्त में बैठकर सोचना, क्या आपको यह अधिकार प्राप्त है कि अपने को उस देवता का अनुयायी कह सकें?

पशुओं की तरह लड़ना, पदों के लिए झगड़ना, स्वार्थ के लिए सिद्धान्त को छोड़ना, M. P. बनने के लिए आर्यसमाज का प्रयोग करना और बस भाषण देकर तालियां बजवाना क्या हमारी पथभ्रष्टता का जीवित प्रमाण नहीं है।

दीखते नहीं हैं कहीं दयानन्द के वीर सैनिक, सब अपनी धुन में मस्त हैं। सबको "स्व" प्यारा है, दयानन्द नहीं। उसे भुलाकर उसकी याद करने का अधिकार कैसे मिल सकता है?

जो दयानन्द की ज्योति से अनुप्राणित हों वे आगे आएं और गुरुदेव की पताका सम्भालें। जीवन को जलाएं इसलिए कि कहीं अन्धेरा रह न जाए…… तभी कुछ हो सकेगा अन्यथा जो हो रहा है उसे देख कर मन रोता है, आंसू बहते हैं और कलम कहती है—

कितना बुलन्द ख्वाब देखा था हमने,
नींद जो खुली तो कुछ नजर न आया।

दयानन्द के भक्तो! मन में श्रद्धा उत्पन्न करो! करो कुछ काम दयानन्द का, ताकि दयानन्द का सपना पूरा हो।

उनके रास्ते पर चलना ही, उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

—आचार्य श्री मनोहर वि[illegible]

# संजय-मन्त्र

**इन्द्र त्वोतास आवयं वज्रं धना ददीमहि ।**
**जयेम संयुधि स्पृधः । ऋक् १-८-३ ।**

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।

यह मन्त्र गायत्री छन्द में है । गायत्री छन्द में तीन पाद होते हैं । इस मन्त्र के तीन पादों में तीन बातें कहीं गई हैं । ये तीनों अपने आप में पूर्ण हैं और इन तीनों का एक-दूसरे से अन्तः वहि सम्बन्ध है; वास्तव में तीनों बातें मिलकर पूर्ण कथन बनता है ।

हे परमेश्वर्यशालिन् ! तू हम पर कृपा कर, हमें अपने मार्ग पर आगे बढ़ने का सामर्थ्य दे । हमें इतनी बुद्धि दे कि कभी पीछे न हटें ।

हम दृढ़ वज्र को धारण करते हैं । हम किसी तरह से भी कमजोर न रहें । किसी भी प्रकार के युद्ध में चाहे वह आन्तरिक हो या वाह्य, अपने प्रति स्पर्धियों पर अच्छी प्रकार सरलता से विजय पावें ।

जब तक हम स्वयं परिश्रम करके थक नहीं जाएंगे, अपने शरीर को वज्र तुल्य कठोर नहीं बनाएंगे, तब तक सर्दी गर्मी हमें तंग करती रहेगी । ऋतु-परिवर्तन हमें अस्वस्थ करता रहेगा । यह एक सत्य है, पूर्ण सत्य है । किन्तु इसके साथ यह भी उतना ही सत्य है कि— यदि न्यायकारी दयालु परमेश्वर की हम पर कृपा नहीं होगी, वह हमारा मार्गदर्शक हमें आगे नहीं ले जाना चाहेगा, तो हम कितने ही घने वज्र धारण करते रहें, हमारे पास बड़े-बड़े आयुधों का अम्बार लगा रहे, किन्तु हम अपने वाह्य शत्रुओं पर विजय नहीं पा सकेंगे, पराजित हो जाएंगे । हम कितने ही स्वस्थ क्यों न दिखते हों ; शरीर वज्र तुल्य ही क्यों न हो । एकदम अकस्मात् कैंसर हो जाएगा, या हृदय की गति रुक जायेगी और हम पूर्ण पराजित होकर मृत हो जायेंगे ।

इसी प्रकार यह पूर्ण सत्य है कि जिसका प्रभु रक्षक है, उसका बड़े से बड़ा शत्रु, बड़े से बड़ा अत्याचारी वाल भी बाँका नहीं कर सकता । उसका शरीर कितना ही कृश हो, वह रुग्ण नहीं पड़ेगा । और वह कितना ही रुग्ण पड़ जाए, रोगों का चाहे घर बन जाए उसे मृत्यु अपने वश में नहीं कर सकेगी । किन्तु इसके साथ

...है कि परमेश्वर उन्हीं की सहायता करता है जो धर्मा युक्त परिश्रम करके थक जाते हैं। जो सदा जागरूक रहकर अपने अन्तः बाह्य शत्रुओं को मारने के लिए कटि बद्ध रहते हैं। अपने शत्रुओं की उपेक्षा नहीं करते। उनके हमलों, दुरभि सन्धियों के प्रति सोये असावधान नहीं रहते। देवाः न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। भून्य जागरणं अभून्यत्यै स्वयनम् यजु :।

इस प्रकार ये दोनों सत्य अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करना चाहिए, शत्रुओं को पराजित करने का, रोगों को दूर रखने का किन्तु कितनी ही शक्ति क्यों न बढ़ जाए कितने ही हथियार क्यों न मिल जाएं— उसे 'अहंकार' नहीं करना चाहिए। इस सृष्टि के नियन्ता, इस जीवन परीक्षा के निरीक्षक, इस संग्राम में विजय दिलाने वाले, इस जीवन में आगे बढ़ाने वाले उस इन्द्र परमैश्वर्यवान् प्रभु को कभी भूलना नहीं चाहिए। सब समृद्धियाँ उसी की कृपा से प्राप्त होती हैं, और तभी तक प्राप्त रहती है जब तक उसकी कृपा रहती है।

अपने शत्रु को अवश्य पराजित करना है, उससे कभी पराजित नहीं होना है, किन्तु ऋषि कहता है कि शत्रु को पराजित करते हुए भी उसके प्रति दुर्भावना नहीं रखनी है। उसका विनाश न चाह, उसका सुधार ही इष्ट है। उसके मन में से दुर्भावना या जीवन से अत्याचार और अन्याय की प्रवृत्ति को समाप्त करना मात्र इष्ट है। इसी भावना को व्यक्त करने के लिए मधुछन्दाः=मधुर इच्छाओं एवं मधुर मर्यादाओं वाला बनना इष्ट है। जो ऐसा बनेगा वह इस मंत्र का ऋषि मधुछन्दा बनकर इस मंत्र का देवता इन्द्र-विजयी या ऐश्वर्यशाली अवश्य बनेगा। शब्दार्थ—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यशालिन् (त्वोतासः) तेरे द्वारा रक्षित रहते हुए (वयं) हम (घना वज्रं) घने-घने भयंकर हथियारों को (आ ददीमहि) धारण करते हैं। और परिणामतः (युधि) युद्ध में संघर्ष में (स्पृधः) स्पर्धा करने वाले विरोधियों, शत्रुओं, प्रतिद्वन्दियों को (सम्) सरलता से तथा पूर्ण रूप से (जयेम) जीतते हैं, पराजित करते हैं, परास्त करते हैं।

## २ माया

मायाभिरिन्द्रमायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥ ऋक् १-११-७

माधुच्छन्दसो जेता ऋषिः। इन्द्रो देवता। अनुष्टुप् छन्दः।

यह मंत्र है। इसका मनन करना आवश्यक है। मनन सामान्य उक्ति में भी चमत्कार उत्पन्न कर देता है, फिर मंत्र में चमत्कार न हो तो वह मंत्र ही क्या हुआ? इसलिए ये वेद मंत्र मनन करने पर ही मन्त्र बनते हैं और मनन कर्त्ता को

ऋषि बनाते हैं। जब तक मनुष्य ऋषि नहीं बनता वह मन्त्र... सकता, केवल उसका शब्दार्थ जान सकता है।

इस मन्त्र का ऋषि जेता अर्थात् सदा विजय प्राप्त करने वाला विजयी है। लेकिन परम न्यायी तथा दयालु प्रभु उसी को विजयी बनाते हैं, जो किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखता, जो किसी का अनिष्ट नहीं चाहता, वह जब किसी का हिंसन करता है, किसी के साथ माया का व्यवहार करता है तो सद्भावना से, न्याय रक्षण के लिये। इसलिए कि कहीं लोगों के मन में यह बात स्थिर न हो जाए कि 'सत्यमेव जयते' का घोष केवल लोगों को बहकाने के लिए है। इसकी भावना-इच्छा सदा मधुर है। यह दण्ड देता है, सुधार की भावना से, द्वेष या बदले की भावना से नहीं। हिंसन करता है सत्य और न्याय की स्थापना के लिये। यह तो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' है; क्योंकि 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि' देखना है।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। देवता विषय है। जिसने इस मन्त्र के मर्म का मनन या दर्शनकर लिया। जो इस मन्त्र का ऋषि बन गया। वह अवश्य इन्द्र बनेगा। वह जहाँ जाएगा वहाँ अपने विशिष्ट गुण कर्म स्वभाव से एकदम पृथक् दृष्टि-गोचर होगा। क्योंकि उसमें उस परमैश्वर्यवान् का कुछ अंश प्रतिविम्बत हो रहा है। वह जहाँ जायेगा विजयी होगा। जो चाहेगा वह होगा, किन्तु तभी तक जबतक वह ऋषि बना हुआ है। मल रहित शुद्ध स्वच्छ दर्पण है। उसमें उस शुद्ध ब्रह्म के दर्शन किये जा सकते हैं।

देवता बनने के लिए ऋषि बनना आवश्यक है। किन्तु ऋषि बनने के लिए मन्त्र का मनन करने के लिए इस मन्त्र में दी हुई स्तुति=वस्तुस्थिति=यथार्थ वर्णन के अनुकूल अपना आचरण बनाना भी आवश्यक है। जिस मनुष्य का आचरण मन्त्र के जितना अनुरूप है, वह उतने अंश में ही ऋषि बना है और जिसने अपने को जितना पवित्र बनाया है, जितना ऋषि बनाया है, उसमें उतना ही देवत्व संक्रान्त होता है। इस मन्त्र की स्तुति के अनुसार जिसने अपना आचरण जितना 'माघु-च्छन्दस्' बना लिया, उतना ही जेता और इन्द्र बन गया। **यदि कोई पूर्ण माधुच्छन्दस् बन गया, तो वह अवश्य ही पूर्ण जेता और इन्द्र बनेगा।**

उस ब्रह्म के साथ माया जुड़ीहुई है। वह माया भी अनिर्वचनीय है। उसको न सत् कहते बनता है असत्। जिस तरह ब्रह्म का वर्णन वाणी नहीं कर सकती, उसी तरह उसकी माया का भी यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता।

माया का अर्थ बुद्धि भी है, 'देशकालानुसार मर्यादित व्यवहार'=**छल-कपट** भी है। उस इन्द्र का न तो कोई बुद्धि से पार पा सकता है, न उसे कोई अपनी चालाकी या छल कपट से धोखा दे सकता है।

यदि कोई मनुष्य अपने ज्ञान-विज्ञान से अपनी बुद्धि से दूसरों का शोषण करता है, अथवा अपने को बंकु (बांका=ऐंठा, टेढ़ा) समझ कर दूसरों को दुख देता

...रता है किन्तु वह प्रभु अपनी तदनुरूप माया से उस विज्ञान-विमूढ़ अथवा कपटी को पार कर जाता है। उसको यथा समय कर्मानुसार उचित फल अवश्य देता है। **इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है।**

किन्तु कठिनाई यह है कि उस इन्द्र की इस माया को अधिकांश लोग तो जान ही नहीं पाते क्योंकि उसकी माया ही ऐसी है। पर कुछ विचारक अपने मनन, ज्ञान, शुद्धाचरण से इस तथ्य को बुद्धि द्वारा तो स्वीकार करते हैं। किन्तु पूर्णतया उन्हें भी विश्वास नहीं होता **क्योंकि यदि पूर्ण विश्वास हो जाय तो** वे भी पूर्ण ही न हो जाएँ।

इसका भाव यह नहीं कि उसकी माया को कोई समझ नहीं पाया है। इस अनन्त काल से अनन्त काल तक अर्थात् यावद् ब्रह्म, **क्यों कि काल और ब्रह्म में भेद** नहीं है। कुछ (मेधिराः) मेधावी ज्ञानी ऐसे होते चले आए हैं। और होते चले जायेंगे, जो इन्द्र की माया को और उस इन्द्र का पश्यव—दर्शन प्रत्यक्ष करते हैं। उन प्रत्यक्ष द्रष्टाओं की कीर्ति को वह सदा बढ़ाता रहता है। उन्हे अपनी किसी आवश्यकता के लिए प्रयत्न नहीं करना होता। वे तो मन्त्रारूढानिमाय या उस प्रभु के कार्य में लगे रहते हैं। वे तो 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' का आचरण करते हैं। जब तक जितना और जैसा काम उनका **अधिष्ठाता प्रभु स्वामी** उन्हें देता है, तब तक उतना और वैसा काम वे करते हैं। और अन्त में उसकी इच्छा को पूरा करके उसके निर्देशानुसार आगे चल देते हैं। **सामान्य जन की दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं।**

**शब्दार्थ**—हे (इन्द्र त्वं) तू (मायिनम्) अपने को मायायुक्त समझने वाले (शुष्णम्) दूसरों को सुखाने-दुःख देने वाले को (मायाभिः) अपनी तदनुकूल माया द्वारा (अवातिरः) पार कर जाता है, उनकी क्षुद्रता को प्रकट कर देता है। (मेधिराः) मेधवी लोग ही तस्य: उसकी माया को (विदुः) जानते हैं। और वह (तेषां-श्रवांसि) उनके श्रव—श्रेय प्रेय को (उत्तिर) देखता है, बढ़ाता है, पूर्ण करता है। मेधिराः कौन है ? जो (माधुच्छान्दसः) सदा सबके लिये मधुर भावना रखते हैं। (मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ते) (जेता) सदा विजयी बनने का प्रयत्न रखते हैं (इन्द्रः) अपने को शुद्ध बनाकर अपने में इन्द्र को प्रतिबिम्बित करके इन्द्र बनते हैं और शुद्ध बनने के लिए (अनुष्टुप्) यथार्थ स्थिति को जान लेने के बाद उसके अनुकूल आचरण करते हैं। यथार्थ ज्ञान के बाद निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदिवा-स्तुवन्तु। न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

———

# ३ कामना पूर्ति

**सेमं नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो ।**
**स्तवामत्वा स्वाध्यः । ऋग् १।१६।८ ॥**

काण्वो मेवातिथिः ऋषिः । इन्द्रो देवता गायत्री छन्दः ।

**अर्थ**—(गोभिः) ज्ञान की किरणों द्वारा पवित्र तथा (अश्वैः) प्राण की साधनाओं द्वारा सशक्त बने अथवा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा हम (स्वाध्यः) अच्छी प्रकार ध्यान करने तथा पवित्र विचारों वाले (त्वा) आपकी (स्तवाम) स्तुति करते हैं। हे (शतक्रतो) अनन्तः प्रज्ञ-अनन्त शक्तिमान् (सः) वह आप (नः) हमारी (कामं) उचित कामना को (आपृण) सब प्रकार से पूर्ण कीजिये। इसका उपाय है कि हम (काण्वः) कण्व के सन्तान अर्थात् अपने लक्ष्य की ओर कण-कण करके सदा बढ़ने वाले और (मेघातिथिः) मेधा स्थिति-स्थितिप्रज्ञ-सदा मेधा की ओर चलने वाले बनें।

ऋषिवाची शब्द मन्त्र के अर्थ को जानने के लिये कुन्जी का काम करता है। यह प्रायः मन्त्र में की गई प्रार्थना को पूर्ण करने का उपाय बताता है। ऋषिवाची शब्द को मन्त्र को समझाने वाला (फार्मूला) सूत्र समझना चाहिये। जब तक ऋषि स्पष्ट नहीं होगा, तब तक मन्त्र का प्रत्यक्ष दर्शन संभव नहीं।

इस मन्त्र में कामना पूर्ति अथवा लक्ष्य प्राप्ति की प्रार्थना है। उसका स्पष्ट तथा निश्चित उपाय काण्व शब्द बता रहा है। यदि हम अपने लक्ष्य को सदा अपने सम्मुख रखकर उसकी ओर अग्रसर होते जाएगे, तो हमारी गति कितनी ही मन्द क्यों न हो, चाहे हम एक-एक तिल करके उसकी ओर जा रहे हों वह प्राप्त अवश्य होगा। इसी बात को किसी कवि ने कहा है :

**यो यदर्थं कामयते तदर्थं घटतेऽपिचा ।**
**अवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥**

लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करना तो आवश्यक है, किन्तु लक्ष्य प्राप्ति का यह प्रयत्न बुद्धि पूर्वक, ज्ञान-विज्ञान के अनुकूल होना चाहिए। अन्ध श्रद्धा या अज्ञान के कारण किसी असंभव या अनहोना घटनाओं या कहानियों पर विश्वास करके, निश्चल और प्रयत्न शून्य होकर नहीं बैठ जाना चाहिये। तिलस्मी और चमत्कार पूर्ण कहानियों को सुनकर अज्ञानवश 'जो भाग्य में होगा, हो जाएगा' वृत्ति को नहीं अपनाना चाहिये।

# दीपावली पर हमारा संकल्प

दयानन्द संस्थान केवल ईश्वर विश्वास पर आरंभ किया गया था। अपने जीवन के ४ वर्षों में संस्थान ने जो कुछ किया उसे बताने की या समझाने की किसी को भी आज आवश्यकता नहीं है।

१५५०० घरों में वेद भाष्य, लाखों की संख्या में सत्यार्थ-प्रकाश, ऋषि जीवनी और देश-विदेश में भारी मात्रा में वैदिक साहित्य पहुंचाने का कार्य कर संस्थान अपनी क्षमता का परिचय दे चुका है।

हमने घोषणाएं मात्र नहीं कीं, नारे नहीं दिये, जो कुछ सीमित शक्ति से सम्भव था वही कार्य किया है और करते रहेंगे।

किन्तु हमारी भावना का और कार्य का मूल्यांकन ऋषि दयानन्द के अनुयायी नहीं कर सके। जो सहयोग हम चाहते थे वह नहीं मिला। अपनों का विरोध तो मिला, पर सहारा नहीं मिला। इसे हम अपना दुर्भाग्य और दुर्बलता समझते हैं।

बहुत से काम करने हैं। जीवन का समय थोड़ा है और काम काफी बड़ा। अनेक काम मन में छटपटा रहे हैं पर साधन के बिना आगे तेजी से बढ़ना रुक रहा है।

अतः बहुत सोच समझ कर आत्म शुद्धि की दृष्टि से हमने दीपमाला के दिन से अन्न, फल व मीठा त्यागने का निर्णय तब तक के लिए किया हैं जब तक हमें तीव्र गति से चलने की शक्ति प्राप्त नहीं हो जाती।

हमें विश्वास है कि प्रभु हमारे मन को शक्ति और साहस देंगे। गुरुदेव दयानन्द के सच्चे अनुयायियों के आशीर्वाद से हमारी साधना पूरी होगी और हमने जो सपना ऋषि का कार्य पूरा करने का देखा है वह पूरा होगा।

गुरुजनों. विद्वानों और प्रभु भक्तों की छत्रछाया में हमारा व्रत पूर्ण हो और हम दिन-रात लग कर वह सब कार्य करें जिसके लिए आर्य-समाज की स्थापना हुयी थी। सबका आशीर्वाद मिलेगा ही,

आशा और संकल्प के साथ ··

दयानन्द संस्थान
नई दिल्ली-५

—भारतेन्द्र नाथ
संस्थापक

यह सनातन सत्य है कि परमेश्वर उसी की सहायता करता है, जो अपनी सहायता स्वयं करता है, अपने लक्ष्य के लिये अपनी शक्ति व बुद्धि के अनुसार अधिक से अधिक प्रयत्न करके श्रांत हो जाता है।

इस मन्त्र में परमेश्वर को (शतक्रतुः) सैंकड़ों प्रज्ञाओं वाला, अनन्त प्रज्ञ कहा है। इसलिए हम कभी उसे धोखा नहीं दे सकेंगे। हमारी कामना को, और उसके लिये किये जाने वाले प्रयत्न को वह प्रतिक्षण जानता है। शतक्रतु का अर्थ अनन्त संकल्प शक्ति का भंडार भी है। हमें अपनी कामना पूर्ण करनी है तो उसे पूर्ण करने का हमारा सच्चा संकल्प होना चाहिये, और उसके लिये धर्मानुकूल पुरुषार्थ अर्थात् सत् प्रयत्न होना चाहिये।

इस संकल्प और प्रयत्न के साथ हमें (गोभिः) ज्ञान प्रकाश से युक्त रहना चाहिये। अपने शत्रु की शक्ति तथा अपनी न्यूनता का ध्यान होना चाहिये। (अश्वैः) अपने को शक्ति से युक्त रखना चाहिये, क्योंकि दूसरे की सहायता पहुँचने में कुछ समय लग जाता है, उस अन्तराल में तो शत्रु से लड़ने के लिये अपनी ही शक्ति काम आयेगी। हमारा जितना प्राण सशक्त होगा, हम शत्रु का उतना ही अच्छी तरह से मुकाबला कर सकेंगे।

जब तक हम ज्ञान और सामर्थ्य से युक्त नहीं होंगे, आलंकारिक तथा स्थूल शब्दों में कहा कि जब तक हमारे पास गौएं तथा घोड़े नहीं होंगे, अर्थात् जब तक हमारे पास अपना उदर भरने और शरीर को स्वस्थ रखने के लिये 'धन-धान्य' अन्न-दूध, मधु औषधि, नहीं होंगे और इधर-उधर घूमने के लिए अश्व अर्थात् यान आदि नहीं होंगे तब तक हम अच्छी प्रकार निश्चिन्त होकर पवित्र रूप में ध्यान करने वाले (स्वाध्यः) नहीं बन पाएंगे।

यदि इस मन्त्र की सारी बातों को अपने जीवन में धारण कर लिया तो अवश्य इन्द्र बन जाओगे और इन्द्र कभी पराजित नहीं होता। उसकी कोई कामना अपूर्ण नहीं रहती।

## ४ ब्रह्मणस्पतिः

यो रेवान्यो अमीवहा वसुवित्पुष्टि वर्धनः।
सनः सिषक्तु यस्तुरः। ऋक् १।१८।२॥
काण्वो मेधातिथिः। ब्रह्मणस्पतिः। गायत्री छन्दः।

इस मन्त्र का देवता ब्रह्मणस्पति है। ब्रह्म का अर्थ प्रकृति तथा वेद भी है। इसलिये ब्रह्मणस्पति हुवा—प्रकृति की विकृति अर्थात् परिवर्तित रूप। इस ब्रह्माण्ड का

स्वामी सर्वशक्तिमान् तथा वेदपति सर्वज्ञ भगवान्। हमारे [illegible] ए है उसके सदृश बनना है, तो अधिक से अधिक शक्ति, ऐश्वर्य तथा ज्ञान अर्जन करना होगा।

यह ब्रह्मणस्पति रेवान्=ऐश्वर्यशाली, अमीवहा=सब प्रकार के रोग तथा वासना रूपी कृमियों का संहारक, वसुवित्=सब प्रकार के वास (निवास) के हेतु धनों को दिलाने वाला, पुष्टिवर्धनः=परिणामतः सब प्रकार की पुष्टि देकर बढ़ाने वाला तथा (तुरः) तुरन्त जीवों के अच्छे या बुरे कर्मों के फलों का निर्णय एवं निश्चय करने वाला न्यायकारी है।

इस मन्त्र में रेवान्=ऐश्वर्यशाली की व्याख्या है। वास्तव में ऐश्वर्यशाली वह है १. जिसमें कोई रोग या वासना न हो। २. जिसे अपने जीवन को जीने के लिये आवश्यक वास पदार्थों की कमी न हो ३. जिसमें कभी उतार-गिराव न हो (नावयानम्), जो सदा पुष्ट रहकर सब तरह से बढ़ता हो। ४. जो सदा त्वरायुक्त-उद्यमी बना रहे, चाहे जितनी सम्पत्ति और वृद्धि हो वह कभी प्रमादी या निरुद्यमी न रहे और विपत्ति पड़ने पर भी निराश या निरुत्साही न बने। ऐसा परमात्मा या राजा अर्थात् शासक हम परसिषक्तु=शासन के द्वारा अनुग्रह करता रहे। यह शासन हकूमत नहीं, सेवा है। किन्तु सेवा न्यायपूर्ण है, इसलिए दोष अपराध के लिये दण्ड आवश्यक है। इस सेवा या अनुग्रह में क्षमा, रियायत, पक्षपात या स्वार्थ बिल्कुल नहीं है।

मन्त्र में वर्णित देवता ब्रह्मणस्पति हमारा लक्ष्य है। अर्थात् हमें भी उसके जैसा उसकी ख्याति के अनुरूप ख्याति वाला बनना है। जो गुण व कर्म उस ब्रह्मणस्पति में है, उन गुणों या कर्मों को हमें भी अपनाना है। हम इन गुणों या कर्मों को अपने जीवन में जितना घटा सकेंगे उतने ही अधिक हम उस प्रभु के सखा बन सकेंगे। उसके निकट पहुंच जाएंगे, उसके समान बन जाएंगे।

मंत्र-वर्णित देवता बनने के लिये, पहले उस मन्त्र के ऋषि के समान बनना जरूरी है। मन्त्रों के ऋषि उपायों का संकेत करते हैं। यदि हम इन उपायों का सहारा लेंगे, इन ऋषियों के समान बनेंगे, तो मन्त्र-देवता (आदर्श पुरुष-मूर्ति-मूर्त) बनना आसान हो जायेगा।

इस मन्त्र का ऋषि है काण्व=कण्वपुत्र। कण्व का अर्थ है कण कण करके, थोड़ा-थोड़ा, कदम-कदम, धीरे-धीरे आगे बढ़ने वाला।

यह संकेत करता है कि यदि धन का ऐश्वर्य प्राप्त करना है, तो एकदम सट्टा करके या चोरी करके धन संग्रह की इच्छा मत करो (अक्षैर्मा दीव्यः) धीरे-धीरे उचित साधनों से, न्यायपूर्ण तथा कानून सम्मत उपायों से धन कमाने का प्रयत्न करो। (कृषिमित्कृषस्व)॥

ज्ञान की प्राप्ति भी एकदम नहीं हो सकती। एक-एक श्रेणी करके ऊपर

चढ़ना है... ...बिना अक्षर ज्ञान के ग्रन्थ ज्ञान सम्भव नहीं । प्रथमा पास किये बिना आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण नहीं की जा सकती ।

आदर्श स्वास्थ्य की प्राप्ति दो चार दिन में संभव नहीं । वर्षों संयम का जीवन, नियमित भोजन, निरन्तर व्यायाम के द्वारा ही ऐसा स्वास्थ्य मिलता है, जिस पर कोई रोग या वासना आक्रमण करके सफल नहीं हो सकते । इस स्वास्थ्य से जो कृमि या वासना टकराएगी वह अवश्य नष्ट हो जाएगी ।

इसी प्रकार एक दिन में मनुष्य तुरः=त्वरायुक्तः=उद्यमी नहीं बन सकता । यदि वह सारे जीवन प्रमादी, आलसी या संशयात्मा बना रहा है, तो वह दो-चार दिन या महीने में पुरुषार्थी नहीं बन सकता ।

उपरोक्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तथा उन्हें प्राप्त करने के बाद अपना व्यवहार (मेधया अतति=मेधातिथिः) बुद्धि पूर्ण रखना है । अन्यथा हम 'ब्रह्मण-स्पति' न बन कर 'ब्रह्महा' बन जाएंगे ।

अर्थ—ब्रह्म के अर्थ हैं, ज्ञान, अन्न, धन सम्पत्ति । जो ब्रह्मणस्पति होगा वह (रेवान्) ऐश्वर्यशाली (अमीवहा) रोगों का संहारक (वसुवित्) सब प्रकार के वास-साधनों के देने वाला (पुष्टि वर्धन.) पुष्टि और वृद्धि के निमित्त (तुरः) त्वरायुक्त उद्यमी तथा तुरन्त फलप्रदाता स्वयं सिद्ध होगा । ऐसा ब्रह्मणस्पति (सिषक्तु) हम पर अनुग्रह करें, हमारी सेवा करे । वह अवश्य करेगा । यदि हम (काण्वः) मेधावी तथा धीर (मेधातिथिः) समझदारी से व्यवहार करने वाले होंगे ।

# ५ कदम-कदम बढ़ने वाला वीर

स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मण स्पतिः
सोमो हिनोति मर्त्यम् । ऋक् १-१८-४।

काण्वो मेधातिथिः । इन्द्रो ब्रह्मण स्पतिः सोमश्च । गायत्री छन्दः ।

इन्द्र—इदि परमैश्वर्ये । सामान्यतया वेद के देवता एक-एक वस्तु के स्वामी समझे जाते हैं । अथवा जिस वस्तु या भाव का कोई देवता है, यदि उस वस्तु या भाव को मूर्तिमान रूप में कहना हो, तो भी उस देवता का वर्णन कर देते हैं ।

**ब्रह्मणस्पतिः**—ज्ञान का स्वामी=आदिस्रोत है । इसलिए इसे ही ज्ञान का देवता माना जाता है । यदि हमें किसी व्यक्ति के ज्ञान की बहुत प्रशंसा करनी हो, उसे मूर्तिमान ज्ञान के रूप में प्रकट करना हो तो उसे ब्रह्मणस्पति कह सकते हैं अर्थात् ज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ ।

**सोम**—शान्ति तथा मस्ती का स्वामी है। ऐसी म... ...कता का स्वामी है, जिसमें कोई अनुचित कर्म या धर्म निषिद्ध व्यवहार नहीं हो सकता। जो व्यक्ति ऐसी मस्ती और तज्जनित शान्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ है; वह सोम उपाधि प्राप्त करने का अधिकारी है।

इसी प्रकार अन्य सब देवताओं के सम्बन्ध में भी यह नियम है। किन्तु इन्द्र इसका अपवाद है और देवता एक-एक वस्तु या भाव या ऐश्वर्य के स्वामी या देवता हैं, किन्तु इन्द्र किसी एक वस्तु या भाव या ऐश्वर्य का स्वामी न होकर वह देवताओं का राजा है। अर्थात् जो ऐश्वर्य या गुण देवताओं में हैं; उनके राजा में तो वे सब गुण या ऐश्वर्य होने ही चाहियें। इसीलिए वेद में इन्द्र देवता सम्बन्धी मन्त्र संख्या में सबसे अधिक हैं।

हम किसी भी प्रकार के ऐश्वर्य को अपने अन्दर धारण करना चाहें तो उसके लिए निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता होती है, और थोड़ा-थोड़ा उसे प्राप्त करते हैं, धीरे-धीरे उसकी ओर अग्रसर होते हैं। इसी स्थिति को स्पष्ट रूप में हृदयांकित करने के लिए कण्व=कण-कण करके अग्रसर होने वाला, शब्द का प्रयोग किया गया है। जो व्यक्ति धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है। किन्तु जो व्यक्ति पर्वत की चोटी की ओर ही सदा देखता रहता है, उसे वह बहुत ऊँची दिखाई देती है। उसे देखकर उसके मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि इतनी अधिक ऊँची? इतना ऊंचा चढ़ना तो मेरे जैसे अल्पशक्ति मनुष्य के लिए संभव नहीं है। इसके विपरीत उच्च शिखर को एक बार देखकर—जो व्यक्ति उसे अपना लक्ष्य बना लेता है, और बार-बार उस तरफ दृष्टिपात करने के बजाय, कदम-कदम (कण-कण) उसकी तरफ बढ़ता जाता है, वह वहाँ अवश्य पहुँच जाता है।

शिखर को बार-बार न देखकर उसकी तरफ कदम उठाते जाना ही मेधातिथि बनने का सर्वोत्तम उपाय है। यही बुद्धिपूर्वक (मेधया) निरन्तर गति (अतिथिः—अत सातत्यगमने) है।

यदि हम किसी भी ऐश्वर्य को अपना लक्ष्य बनाकर निरन्तर उसकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहेंगे, तो उसे अवश्य प्राप्त करेंगे।

यदि हम अपने जीवन में समग्र ऐश्वर्य (इन्द्र) ज्ञान (ब्रह्मणस्पति) और शान्ति (सोम) का साक्षात्कार कर लेंगे तो समझ लेना चाहिये कि ये तीनों देवता हमें आगे बढ़ायेंगे। यदि ये देव हमें बढ़ाना चाहते हैं, ता व्यक्ति या आसुरी शक्ति हमें कोई बाधा नहीं पहुंचा सकती। हम वीर की तरह से अवश्य विजयी होंगे।

**शब्दार्थ**—(यं मर्त्यम्) जिस मनुष्य को (सोमः) शान्ति और मस्ती का स्वामी (ब्रह्मणस्पतिः) ज्ञान का स्वामी और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यों का स्वामी

...को प्रेरणा देता है (सः) वह (वीरः) विशिष्ट रूप में गति करता है अर्थात् (मेधातिथिः) बुद्धिपूर्वक तथा (काण्वः) निरन्तर और कण-कण गति वाला बनता है (नरिष्यति) उसकी गति में कभी बाधा नहीं पड़ती, उसकी कभी पराजय या विनाश नहीं होता।

## ६ मरुत्वान् इन्द्र

**हतं वृत्रं सुदानवः इन्द्रेण सहसा युजा।**
**मानो दुःशंस ईशत। ऋक् ।१-२३-९।।**

काण्वो मेधातिथिः। इन्द्रोमरुत्वान्। गायत्री छन्दः।

सुदानवः शब्द दैप् शोधने या दा दाने से बना है। मन्त्र में यह मरुतों का विशेषण है मरुत् अर्थात् प्राण शरीर को प्रतिक्षण शुद्ध करते हैं, और गति देते रहते हैं। मरुत् यदि प्राण दान न करें तो व्यक्ति एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता; और प्राण यदि शोधन क्रिया न करें तो व्यक्ति एक क्षण भी स्वस्थ नहीं रह सकता।

यहाँ प्राणों से प्रार्थना की गई है कि तुम ऐसी कृपा करो कि (वृत्रम्) स्वास्थ्य का आवरण करने वाली बीमारियों को, नैतिकता और तज्जन्य दिव्य भावनाओं का आवरण करने वाली वासनाओं तथा विलासिताओं को नष्ट कर दो।

केवल प्राण स्वयं ऐसा करने में असमर्थ है। जब तक आत्मा उनका सहयोगी न हो, प्राण तो पोषण देते रहेंगे। और उससे दैवी भावनाएँ और आसुरी वासनाएँ दोनों ही पुष्ट होती रहेंगी। इसलिए आत्मा का सहयोग आवश्यक बन गया है। यदि प्राण और आत्मा में मैत्री होगी, दोनों में सहयोग होगा, तो यह दुष्ट ख्याति वाला वृत्र हम पर शासन करने में समर्थ नहीं हो पाएगा। हम अपनी जीवन यात्रा पर सुचारू रूप से अग्रसर होते रहेंगे। इसीलिए इस मन्त्र का देवता न केवल आत्मा है, और न केवल प्राण है, अपितु प्राणों से युक्त आत्मा (मरुत्वान् इन्द्र) है।

प्राणों की साधना अर्थात् वशीकरण या शोधन सरल नहीं है। न ही यह एक क्षण में या तुरन्त हो सकता है। उसके लिए निरन्तर और दीर्घकाल तक साधना करनी पड़ती है। कभी-कभी तो यह साधना महीनों और वर्षों में ही नहीं, सारा जीवन व्यतीत करने पर भी पूर्ण नहीं होती और कई बार इस साधना में कई जन्म भी लग जाते हैं। इसलिए यदि यह साधना पूर्ण करनी है, तो मनुष्य को (कण्व) कण-कण करके प्रगति करने वाला, अत्यन्त धैर्यपूर्वक अपने लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होने वालों में भी अग्रगण्य काण्व बनना पड़ेगा।

केवल काण्व बनने से भी काम नहीं चलेगा, उसके स[illegible] बुद्धिपूर्वक, **समझदारी**,(सयम, विवेक) के साथ पूरा करना हो[illegible] साधना केवल श्रद्धा और नैरन्तर्य से भी पूर्ण नहीं होती; उसके साथ बुद्धि=विवेक वैराग्य का भी सहयोग चाहिए। इसलिए मरुत्वान् इन्द्र बनने के लिए काण्व से मेधातिथि बनना आवश्यक तथा अनिवार्य है।

यदि हम प्रारम्भ में काण्व मेधातिथि और परिणामतः मरुत्वान् इन्द्र बन गए, तो हमारी वासनाएँ, हमारे रोग, कष्ट, दुःख तथा दुरित स्वयमेव नष्ट हो जायेंगे। अथवा इतने निर्बल तथा निर्वीय हो जायेंगे कि वे हमारा कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे। हम पर शासन करने की तो बात ही नहीं उठती।

हमें वे कितना ही डर दिखाएं। हम पर वे कितना ही अत्याचार=भयानक आक्रमण करें। हमें कितना ही सताएं; किन्तु हम पर हमारी आत्मा पर उनका शासन नहीं चल पाएगा। हमें वे अपने लक्ष्य से तिल भर भी विचलित नहीं कर पायेंगे और अन्तिम विजय अवश्य मिलेगी।

**शब्दार्थ**--(सुदानवः) सदा अपना शोधन करने वाले तथा दिव्य भावनाओं के लिए आत्मदान करने वाले साधकों! (इन्द्रेण युजा) परमेश्वर के सहयोग या उसकी कृपा होने पर (वृत्रं हतं सहसा) बलपूर्वक अपनी आवरक वासनाओं को नष्ट कर दो। इस प्रकार अपने को साध लो कि बड़े से बड़े दुख और अत्याचार या वासनाएँ (मानः ईशत) हम पर शासन करने में समर्थ न हो पाएं। इसका उपाय हम (मेधातिथिः) बुद्धिपूर्वक गति करने वाले तथा (काण्वः) निरन्तर लक्ष्य की तरफ बढ़ते चले जाएं।


दीपमाला पर : बांटिए

# १०० सत्यार्थ-प्रकाश

२००), २५०), ३५०) ५००) ३१००) ६१००) सैकड़ा

के सत्यार्थ प्रकाश तैयार हैं

२० अक्टूबर तक १०० प्रति मंगाने पर

डाक रेल प्रेषण व्यय मुफ्त

दयानन्द संस्थान ३३७-ए सूर्यनगर

निकट विवेक विहार : पो० चिकम्बरपुर दिल्ली-३२

॥ ओ३म् ॥

# उपनिषद्-संग्रह

ईश-केन-कठ उपनिषदों की
हृदयग्राही व्याख्या

व्याख्याकार

श्रद्धेय महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

जन-ज्ञान मासिक की
दीपमाला पर सादर भेंट

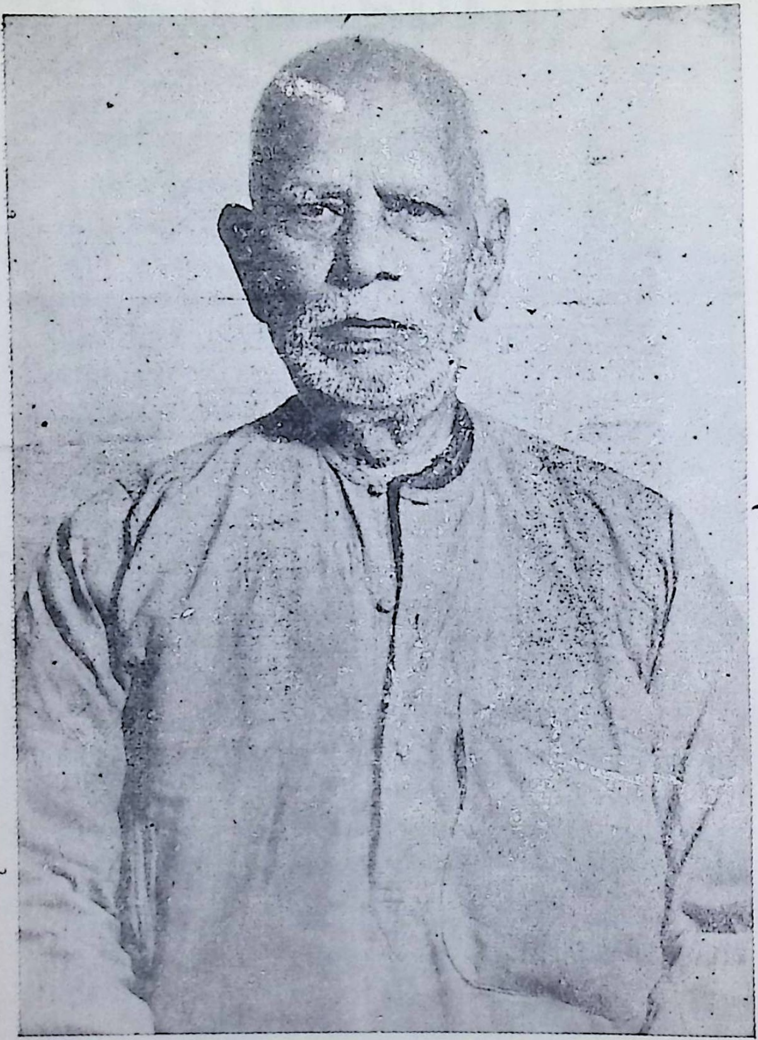

अध्यात्म ज्ञान के उपदेष्टा

महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

# ईशोपनिषद्

ईशा वास्यमिदँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।१।।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।३।।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य त सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६।।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।८।।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ् रताः ।।९।।

अयन्देवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमं तत्ते नश्यामि योऽसावसौ
पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतँ स्मर ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि
देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

॥ ओ३म् ॥

# ईशोपनिषद्

ईशा वास्यमिदँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

१—(इदं, सर्वम्) यह सब (यत्किञ्च) जो कुछ (जगत्याम्) पृथ्वी पर (जगत्) चराचर वस्तु है (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् आच्छादित है।

२—(तेन) उसी ईश्वर के (त्यक्तेन) दिए हुए पदार्थों से (भुञ्जीथाः) भोगकर।

३—(कस्य स्वित्) किसी के भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लालच मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

४—(इह) यहां (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (एवम्) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) कर्म (न, लिप्यते) नहीं लिप्त होता है (इतः) इससे (अन्यथा) भिन्न और कोई मार्ग (न) नहीं है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

५—(ये के च) जो कोई (आत्महनः) आत्मा के घातक [आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले] (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे (प्रेत्य) मर कर (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धेरे से (आवृताः) आच्छादित हुए (ते, असुर्य्याः नाम लोकाः) वे, प्रकाश

रहित नाम वाले जो लोक—योनियां हैं (तान्) उन (योनियों) को (अभिगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

**व्याख्या**

मनुष्य शक्ति का केन्द्र है। शक्ति उसी के भीतर निहित है। इन्हीं शक्तियों के विकास का नाम शिक्षा है। मनुष्य-जीवन की सफलता का भेद यही शक्ति-विकास है। यही शक्ति विकसित होकर अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक और परलोक की सिद्धि का कारण बनती है। शक्ति-विकास के कार्य-क्रम का ही नाम अध्यात्म-(योग) विद्या है। योग कर्म में कुशलता का नाम है, जैसा कि गीता में कहा गया है कि—'योगः कर्मसु कौशलम्।' महामुनि पतञ्जलि ने भी योग को क्रिया-(कर्म) योग ही कहा है और उसके केवल तीन भाग किए हैं—'तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।' (योगदर्शन २-१) अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति करने ही से योग की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सुतराम् क्रिया (कर्म) ही योग है। उस क्रिया को करने के लिये सबसे पहला साधन तप है। तप व्रतानुष्ठान को कहते हैं। व्रत नाम कर्त्तव्य-प्रतिज्ञा का है। शक्ति के विकास के लिए जिस तप को करना, जिस व्रत का अनुष्ठान करना या जिस कर्त्तव्य का पालन करना है उसी का नाम कर्त्तव्य-पंचक है अर्थात् क्रियात्मक जीवन बनाने के लिए जिस प्रकार के वातावरण (Atmosphere) के उत्पन्न करने की जरूरत है, वह उन पाँच कर्त्तव्यों के पालन करने से उत्पन्न होता है, जिसका नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है। यह उपनिषद् की आदिम शिक्षा है। इन्हीं कर्त्तव्यों के पालन करने से किसी भी व्यक्ति को वह अधिकार प्राप्त हुआ करता है, जिसका नाम अध्यात्म-विद्या में प्रवेशाधिकार है। इसीलिए उपनिषदों की शिक्षा का वर्णन करने में पहला स्थान इसी कर्त्तव्य-पञ्चक को दिया गया है।

**पहला कर्त्तव्य**

पहली बात यह है कि मनुष्य उच्च प्रकार की आस्तिकता के भावों से अपने हृदय को भर ले। इसका साधन यह है कि मनुष्य ईश्वर को परिच्छिन्न (ऐकदेशीय) न मानकर उसे विभु—व्यापक रूप में माने, अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु के भीतर भी आकाश है, इसी प्रकार से ईश्वर भी जगत् में ओत प्रोत हो रहा है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो ईश्वर में न हो और जिसमें ईश्वर न हो। इस सिद्धान्त के आचरण में आने से मनुष्य का हृदय लचकीला हो जाता है। हृदय लचकीला होने के लिए दो बातों की जरूरत होती है। प्रथम वह निष्पाप हो, दूसरे उसमें प्रेम की मात्रा अधिकता से हो। ये दोनों बातें ईश्वर को उपर्युक्त भांति सर्वव्यापक मानने से मनुष्य में आया करती हैं।

मनुष्य पापाचरण के लिए सदैव एकान्त की खोज किया करता है। चोर इसीलिये रात्रि को सफलता का साधन समझता है, क्योंकि उसमें उस प्रकार के

एकान्त की अधिक संभावना होती है, जो ऐसे दुष्ट कर्मों के लिये आवश्यक है। परन्तु ईश्वर का विश्वास होने पर पापाचरण के लिये एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता। एक उर्दू कवि ने इसी भाव को अपनी एक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है—

> जाहिद[१] शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर।
> या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो।।

अस्तु, जब तक मनुष्य के हृदय में नास्तिकता न आये तब तक वह पाप नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर के सर्वव्यापकत्व पर विश्वास होने ही से मनुष्य निष्पाप हो सकता है। दूसरी बात प्रेम है। मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक मानने से विवश है कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की सत्ता उसके व्यापकत्व गुण से, स्वीकार करे और जब इस प्रकार प्रत्येक प्राणी में—चाहे वह अछूत है या और कोई उससे भी निकृष्ट—ईश्वर का होना मानेगा तब उससे घृणा किस प्रकार कर सकता है। घृणा का अभाव ही प्रेम का द्वार है। घृणा भी नास्तिकता ही से उत्पन्न होती है। जिससे कोई घृणा करेगा, अवश्य उसमें ईश्वर की सत्ता का अभाव मानेगा। इसी का नाम तो नास्तिकता है। निष्कर्ष यह है कि निष्पापता और प्रेम से मनुष्यों के हृदय में लचकीलापन (कठोरता का अभाव) आया करता है, और इन दोनों साधनों की प्राप्ति ईश्वर के व्यापकत्व पर विश्वास होने ही से हुआ करती है। उपनिषद् ने इस शिक्षा को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है—"ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।"

## दूसरा कर्त्तव्य

उपनिषद् के संक्षिप्त से तीन शब्दों में दूसरा कर्तव्य वर्णन किया गया है। वे शब्द ये हैं—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः अर्थात् उस (ईश्वर) के दिये हुए से भोग करे। उपनिषदों ने प्रत्येक प्रकार के भोग की आज्ञा दी है। मनुष्य विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे, शक्ति प्राप्त करके राज्य प्राप्त करे और उसका उपभोग करे, कृषि-व्यापार तथा अन्य कौशलादि से धन प्राप्त करके उसका इस्तेमाल करे इत्यादि। उपनिषद् इन सब को विहित बतलाती है, परन्तु एक शर्त इन सबके भोग के साथ लगाती है और वह यह है कि मनुष्य इन प्राप्त भोग पदार्थों को ईश्वर का समझकर भोग करे। ऐसे विश्वास से मनुष्य प्रत्येक पदार्थ, राज्य, धनादि को ईश्वर का समझकर उनमें केवल अपना प्रयोगाधिकार समझेगा और ममत्व न जोड़ सकेगा कि 'अमुक पदार्थ मेरा है'। संसार के समस्त दुःखों का मूल ममता है। दुःख प्रायः किसी न किसी वस्तु के पृथक् होने से हुआ करते हैं, परन्तु जब इन्हीं वस्तुओं को मनुष्य स्वयं छोड़ देता है, तब दुःख नहीं अपितु सुख हुआ करता है।

---

१. जाहिद— परहेजगार—शुद्धाचारी मनुष्य।

एक प्रोफेसर को कालिज में अनेक वस्तुएं, पुस्तकें, चित्र, कुर्सी, मेज, आदि—प्रयोगके लिए मिली हुई हैं। वह उनका कालिज के घंटों में प्रयोग करता है। प्रयोग-काल (कालिज के घंटों) के भीतर यदि कोई उससे इन वस्तुओं को लेना चाहता है तो नहीं देता, परन्तु जब कालिज का अन्तिम घंटा बजा और इन वस्तुओं के प्रयोग का समय खतम हुआ, तब स्वयं इन वस्तुओं को कालिज में ही छोड़कर तने-तनहा चल देता है। उस समय यदि कोई कहता है कि उन वस्तुओं में से वह किसी को अपने साथ लेता जाय तो वह उसे अपने ऊपर बोझ समझता है। प्रोफेसर ने जब इन वस्तुओं के सम्बन्ध में अपना केवल प्रयोगाधिकार समझा, तब उसे इन वस्तुओं के छोड़ने में कुछ भी दुःख नहीं हुआ, परन्तु यदि वह इन वस्तुओं में ममता जोड़ देता है कि 'ये वस्तुएं मेरी हैं' तब उसे इन वस्तुओं को छोड़ने में कष्ट अनुभव करना पड़ता है। अस्तु, मनुष्य में जब तक ममता का प्राबल्य रहता है, तब तक वह किसी वस्तु को छोड़ना नहीं चाहता। परन्तु जब उन वस्तुओं में वह अपना केवल प्रयोगाधिकार समझता है, तब प्रयोग-समय समाप्त होने पर स्वयं उन्हें छोड़ दिया करता है। वस्तुओं के छीनने वाले चोर, डाकू, राजे महाराजे हुआ ही करते हैं, परन्तु एक बड़ी प्रबल शक्ति है, जो गिन-गिन कर एक-एक वस्तु प्राणियों से ले लिया करती है और कुछ भी नहीं छोड़ा करती। उस शक्ति का नाम है मृत्यु। मृत्यु आकर पदार्थों को छीनती है परन्तु ममता का वशीभूत प्राणी उन्हें देना नहीं चाहता। इसी कलह का नाम मृत्युसंवेदना (मरने का दुःख) है। मृत्यु वास्तव में दुःखप्रद नहीं सुखप्रद है, परन्तु मरने के समय ये दुःख मनुष्यों को ममता के वश होकर उठाने पड़ते हैं। जो मनुष्य सांसारिक भोग्य पदार्थों में अपना प्रयोगाधिकार समझता है वह इन्हें प्रयोग का समय (जीवन-काल-आयु) समाप्त होने पर छोड़ देता है और फिर उसके पास कुछ रहता ही नहीं, जिसे मृत्यु आकर अपहरण करे। इसलिये उसके लिये मृत्यु का समय दुःख का समय नहीं; अपितु सुख और शान्ति के साथ संसार छोड़ने का समय होता है, जिसमें उसे आशा और आशा ही नहीं, अपितु विश्वास होता है कि वह यह यात्रा चिरकालीन सुख और शान्ति की प्राप्ति करने के लिये कर रहा है। और ऐसे व्यक्ति मृत्यु से डरते नहीं, अपितु मृत्यु का स्वागत किया करते हैं और प्रसन्नता के साथ हंसते-हंसते संसार को छोड़ दिया करते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में जब यह सिद्धान्त दुनिया के सामने रखा जाता है कि वह दुःखप्रद नहीं, अपितु सुखप्रद है, तब मनुष्य उसके स्वीकार करने में हिच-किचाते हैं।

एक व्यक्ति कुष्ठ रोग से पीड़ित है और उसके शरीर से रक्त और मवाद निकला करता है, जिससे प्रत्येक क्षण उसे व्यथित रहना पड़ता है—इस पर तुर्रा यह कि वह जेलखाने में कैद भी है—किसी प्रकार की स्वतन्त्रता न होने से उसका जीवन दुःख और केवल दुःखमय बन रहा है। परन्तु ऐसे व्यक्ति से जब यह पूछते हैं कि

क्यों भाई, तुम इन सारी विपत्तियों से बचने के लिये मरना चाहते हो ? तो मरने का नाम सुनकर वह भी कानों पर हाथ धरता है। क्रियात्मक जगत् में मृत्यु का इतना भय मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ है, फिर वे मृत्यु को किस प्रकार सुखप्रद कह सकते हैं। यही कारण है, जिससे मनुष्य इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में हिचर-मिचर करते हैं। परन्तु जैसा कि कहा गया है, यह दुःख मनुष्यों को तब होता है जब वे ममता से नाता जोड़ लेते हैं।

एक अत्यन्त रूपवान् पुरुष अपना मुँह जब हंसाने वाले शीशे Ludicrous—Laughing glass) में देखता है, तो उसका अच्छा मुंह भी बहुत भोंड़ा और हंसने के योग्य दिखाई देता है। तो इसमें मुँह का दोष है ? मुँह तो अच्छा खासा है, इसमें दोष असल में उस हास्यकारी शीशे ही का है। इसी प्रकार मृत्यु तो दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद ही है। परन्तु जब मनुष्य ममता के आईने को सामने रख कर उसमें उसे (मृत्यु को) देखता है, तब वह डरावनी और भयावनी प्रतीत होने लगती है। इससे स्पष्ट है कि दोष मृत्यु का नहीं, किन्तु उसी ममतारूपी हास्यकारी शीशे का है। यदि इस शीशे को हटा कर देखें तो फिर मृत्यु की प्यारी और असली सूरत दिखाई देने लगती है।

मृत्यु के प्रिय होने के सम्बन्ध में डाक्टर हफ़ लौंसडेल हैंड्स (Dr. Hugh Lonsdale Hands) ने आत्मघात के द्वारा परीक्षण करके मृत्यु के प्रिय होने की पुष्टि की है। उसने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा है :—

I have taken half an ounce of Aconite, an ounce of Chloral Hydrate. Both are nice except the tingling, waiting—feeling very happy—first time I ever felt without worries as if free. + + + Japs are right—death is lovely, I feel fine; no pain.

इसका भाव यह है कि विष खाने के बाद उसने लिखा—"प्रतीक्षा कर रहा हूँ ! बहुत प्रसन्न हूँ ! यह पहली बार है कि मैं अपने को समस्त दुःखों से मुक्त अनुभव कर रहा हूँ। जापानी ठीक कहते हैं—'मृत्यु प्रिय है'। मैं अपने को अच्छा समझ रहा हूँ। मुझे कोई तकलीफ नहीं है।"

सारांश यह है कि इस दूसरे कर्त्तव्य को पालन करने से मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतंत्र होता है। किन्हीं-किन्हीं पुरुषों को यह भ्रम है, या हो जाता है कि यदि मनुष्य सांसारिक पदार्थों—राज्यादि में ममता न जोड़ें तो फिर उनकी रक्षा न कर सकेंगे। परन्तु यह उनकी भूल है। मनुष्य उन वस्तुओं की भी वैसी ही रक्षा—उपयुक्त प्रोफेसर की तरह—किया करता है, जो उसे प्रयोग के लिए मिली हों, जैसी उनकी करता है जिनमें उनसे मेरेपन का नाता जोड़ा हुआ है। इसलिए लोकदृष्टि से भी यह नियम वैसा ही उपयोगी है जैसा परलोक-दृष्टि से, मनुष्य मृत्यु के भय

से स्वतन्त्र होकर संसार में कौन-सा बड़े से बड़ा काम है, जिसे नहीं कर सकता।

## तीसरा कर्त्तव्य

बिना शान्ति का वातावरण उत्पन्न किये संसार का कोई भी काम पूरा नहीं होता, फिर अध्यात्म-विद्या का तो कहना ही क्या, उसे तो कोई अशांति में या अशांत-चित्त होकर प्राप्त ही नहीं कर सकता। अशान्ति का मूल कारण किसी व्यक्ति या जाति का स्वत्व अपहरण ही हुआ करता है।

दुनिया में भिन्न-भिन्न जातियों में जितने भी युद्ध हुआ करते हैं, उनका मुख्य कारण यही होता है कि किसी जाति का स्वत्व छीना गया या उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाई गई हो। यही कारण व्यक्ति-व्यक्ति के झगड़ों की तह में छिपा हुआ मिलता है। इसलिए 'कारणाभावात्कार्य्याभावः' के नियमानुसार उपनिषदों ने तीसरा कर्त्तव्य यह ठहराया है कि 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' अर्थात् किसी के धन या स्वत्व को लेने की चेष्टा मत करो। न किसी का धन लिया जायगा, न किसी का स्वत्व छीना जायगा, न किसी की स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाई जायेगी और न उनकी संतति, अशान्ति का जन्म होगा।

## चौथा कर्त्तव्य

उपनिषद् ने चौथा कर्त्तव्य इन शब्दों में बतलाया है कि कर्म करते हुए ही मनुष्य १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करे। परन्तु शर्त यह है कि कर्म इस प्रकार से करने चाहियें, कि वे करने वाले को लिप्त न करें, अर्थात् मनुष्य उनमें फंस न जाये। उपनिषद् ने खुले शब्दों में यहाँ यह भी कह दिया कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए इस (कर्मयोग) के सिवाय कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह कर्त्तव्य दो भागों में विभक्त है:—(१) मनुष्य को निरन्तर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिए, (२) वे कर्म कर्त्ता को फंसाने वाले न हों।

पहले भाग पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि 'कर्म' सृष्टि का सार्वत्रिक नियम है। जगत् में कोई वस्तु ऐसी दिखाई नहीं देती कि जो क्रिया-रहित हो। सृष्टि का महान् से महान् कार्य सूर्य प्रतिक्षण गति में रहता है। पृथ्वी गतिमय है, चन्द्रमा चलता है। यदि छोटी-से-छोटी वस्तु एक कण (Atom) को लें और देखें तो एक बड़ा चमत्कार दिखाई देता है। उस कण के भीतर एक केन्द्र है और उसके चारों ओर असंख्य विद्युत्कण (Electrons) उसी प्रकार घूमते दिखाई देते हैं, जिस प्रकार अनेक ग्रह और उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मांड का एक-एक कण भी सूर्य-मण्डल (Solar System) का संक्षिप्त रूप है। क्या यह कण जिसके भीतर इतना कार्य हो रहा हो, ठहरा हुआ या निष्क्रिय है? विज्ञान का उत्तर यह है कि कदापि नहीं। यह पुस्तक जो सामने मेज पर रखी

है, क्या ठहरी हुई है ? कदापि नहीं। पुस्तक के पृष्ठ जिन कणों से बने हैं, उनमें से प्रत्येक कण में कम्पन (Vibration) पाया जाता है। यदि कम्पन न हो तो कोई वस्तु वस्तुरूप में बाकी न रहे। इससे स्पष्ट है कि जगत् की छोटी से छोटी वस्तु कण है, जिसके भीतर गति हो रही है, और जो स्वयं भी सूर्य-मण्डल की तरह गति में है। जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है, तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता है ? इसलिए मनुष्य को भी कर्मनिष्ठ होना चाहिए। उपनिषद् का उपर्युक्त वाक्य जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्म करने का विधायक है। संन्यास, कर्म के त्याग को अवश्य कहते हैं, परन्तु कर्म से प्रयोजन काम्य (सकाम) कर्म यज्ञादि से है, और उन्हीं का त्याग संन्यास है, निष्काम कर्म तो कभी भी नहीं छोड़े जा सकते।

कर्त्तव्य का दूसरा भाग यह है कि मनुष्य कर्म में लिप्त न हो। कर्त्तव्य के इस भाग को समझने के लिए आवश्यक है कि यह समझ लिया जावे कि कर्म दो प्रकार के हैं—(१) सकाम और (२) निष्काम। सकाम कर्म, फल की इच्छा त्याग कर, धर्म (कर्त्तव्य) समझकर, कर्म करने को कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि सकाम कर्म से वह वासना उत्पन्न होती है, जो फिर उसी प्रकार के कर्म की प्रेरणा भीतर से करती रहती है। योगदर्शन का भाष्य करते हुए व्यास मुनि ने एक संसार चक्र की बात कही है। वह चक्र ६ अरे वाला है। वे अरे ये हैं—मनुष्य इच्छा करता है उसका फल उसे सुख मिलता है, उससे सुख की वासना बनती है। वह फिर उसी प्रकार की इच्छा करती है। उससे फिर सुख और फिर वही वासना, फिर वही इच्छा। इस प्रकार, (१) इच्छा, (२) उसका फल, सुख, (३) सुख की वासना, ये चक्र के तीन अरे हैं, जो बराबर उपर्युक्त भांति घूमा करते हैं। बाकी तीन अरे (१) द्वेष (२) उसका फल, दुःख, (३) दुःख की वासना हैं। वे भी पहले तीन अरों की भांति घूमा करते हैं। यही छः अरों वाला संसार-चक्र है, जो संसारी पुरुषों को चक्र में रखता है। इसी चक्र में रहने का नाम कर्म में मनुष्य का, या कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है। उपनिषद् मनुष्यों का कर्त्तव्य ठहराती है कि कर्म करते हुए भी इस चक्र में न फंसें। फंसे हुए प्राणी इस चक्र से किस प्रकार निकल सकते हैं, उसका उपाय और एकमात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्तन करना है। इस परिवर्तन से प्रभावित मनुष्य निष्काम कर्म करके वासनाओं का नाश करता है। उनके न रहने से सब सुख-दुःख भी पृथक् हो जाते हैं और सुख-दुःख के न रहने से उनकी वासनायें भी नहीं बन सकतीं और इस प्रकार चक्र के छहों अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उससे निकल आता है। यही चौथा कर्त्तव्य है, जिसके पालन किए बिना व्यक्ति अध्यात्म-जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं बन सकता।

## पाँचवां कर्त्तव्य

उपनिषद् में पांचवें कर्त्तव्य का विधान इस प्रकार किया गया है—

आत्म-हनन (आत्मा के विपरीत काम) करने वाले मर कर असुर्य (प्रकाश-रहित) और तम से आच्छादित योनियों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में आत्म-हनन अर्थात् आत्मा के प्रतिकूल कार्य को निषिद्ध ठहराया गया है। आत्मा के प्रतिकूल कार्य नहीं करना चाहिए, इस पर विचार करना है। आत्मा स्वरूप से शुद्ध और पवित्र है, किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं। इसलिए अत्म-प्रेरणा भी, जिसको अन्तःकरण के अनुकूल कार्य करना (कॉन्शन्स=Conscience) कहते हैं, इन दोनों से मुक्त होती है। इसीलिए धर्मशास्त्रकार मनु ने भी इसी आत्मप्रेरणा को 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कह कर धर्म का अन्तिम साधन बतलाया है।

चरित्र-निर्माण करने का मुख्य साधन भी यही आत्म-प्रेरणा है। चरित्रवान् हुए विना, मनुष्य अध्यात्म-जगत् में प्रवेश नहीं कर सकता। इसीलिए उपनिषद् में इस वात पर विचार करते हुए कि कौन-कौन मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते उसकी गणना में सबसे पहिला नाम चरित्रहीनों का लिया है—नाविरतो दुश्चरिता-न्नाशान्तो नासमाहितः।' (कठोपनिषद् १।२।२४)। आत्म-प्रेरणा से किस प्रकार चरित्र निर्मित होता है इसके लिए किसी विशेष व्याख्या की जरूरत नहीं है। चरित्र को ही सदभ्यास भी कहते हैं। अभ्यास एक ही कर्त्तव्य को अनेक बार कार्य-परिणत करने से वना करता है। मनुष्य जव कोई अच्छा या बुरा काम करना चाहता है, तो अच्छा काम करने में आत्म-प्रेरणा से उसको उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है परन्तु जब बुरा काम करने का विचार करता है, तो उसके सम्मुख भीतर से भय, लज्जा और शंका के रूप में अनुत्साह और अप्रसन्नता पैदा होती है। पहली सूरत में किसी अच्छे कर्म को अनेक बार करके प्राणी उसके करने का अभ्यास (आदत) बना लेता है और फिर उस काम को वह इच्छा से नहीं किन्तु अभ्यासवश किया करता है। इस का नाम सदभ्यास या चरित्र है। इसी प्रकार जब कुसंगति में पड़कर कुसंग-दोष से आत्मप्रेरणा के विरुद्ध मनुष्य कोई बुरा काम अनेक बार कर लेता है, तो उससे असदभ्यास बनता है और इसमें वह उस बुराई को भी विना इच्छा के—किन्हीं सूरतों में इच्छा के विरुद्ध भी—अभ्यासवश करने लगता है। कल्पना करो कि एक मनुष्य ने अफीम खाने का बुरा अभ्यास बना लिया है। अब जब दूसरे पुरुष उसको इस दुष्कर्म की दुष्कर्मता बतलाते हैं तो वह उन्हें स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब कहते हैं कि फिर उसे छोड़ क्यों नहीं देते, तब वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कह देता है कि क्या करूं? आदत से लाचार हूँ।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्म-प्रेरणा से सदभ्यास या चरित्र बना करता है और उसके विरुद्ध आचरण करने से असदभ्यास या दुश्चरित्र। हमने देख लिया कि आत्मा के अनुकूल ही कार्य करके हम चरित्र-निर्माण करते हुए आत्म-जगत् में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने भी उपनिषद् की सच्चाई के सामने सिर झुकाया है। इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् मारले ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'राजी नामा' (Compromise)। पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि किन सूरतों में राजीनामा हो सकता है ? उसने सम्मति के तीन दरजे किये हैं—

(१) सम्मति का स्थिर करना।
Formation of opinion.

(२) सम्मति का प्रकट करना।
Expression of opinion.

(३) सम्मति का कार्य में परिणत करना।
Execution of opinion.

इस प्रकार से सम्मति के तीन दरजे करते हुए मारले ने लिखा है कि सम्मति के स्थिर करने में कोई राजीनामा नहीं हो सकता। हाँ, कुछ थोड़ा सा राजीनामा सम्मति के प्रकट करने (संख्या २) में हो सकता है और वह केवल इतना कि जिस सम्मति के प्रकट करने सें दुष्परिणामों के निकलने की संभावना हो उस सम्मति को प्रकट न किया जाय। यह वही बात है जिसे मनु ने "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" के द्वारा प्रकट किया है। मारले की सम्मति में पूरा-पूरा राजीनामा सम्मति के कार्य में लाने (संख्या ३) ही में हो सकता है, अर्थात् अल्पपक्ष की सम्मति की उपेक्षा करके बहुपक्ष के मतानुकूल कार्य किया जाय। परन्तु उसकी यह स्थिर सम्मति है कि सम्मति के स्थिर करने (संख्या १) में किसी दशा में कोई राजीनामा नहीं हो सकता। सम्मति का स्थिर करना क्या है ? आत्म-प्रेरणानुकूल किसी विचार का स्थिर करना। अतः यह स्पष्ट है कि मारले ने भी आत्म-प्रेरणा के विरुद्धाचरण का विधान नहीं किया है। कर्त्तव्य-पंचक में से यह पांचवाँ कर्त्तव्य है—'आत्मा के अनुकूल कार्य करना।'

इस प्रकार उपनिषदों ने सबसे पहली बात आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यही बतलाई है कि मनुष्य इन पाँचों कर्तव्यों को समझकर इन पर आचरण करे। वे पांचों कर्त्तव्य हैं। ऊपर लिखे एक बार फिर उन्हें हम यहाँ दोहरा देते हैं:—

(१) सम्पूर्ण ब्रह्मांड में ईश्वर का सर्वव्यापक मानना।

(२) जगत् के भोग्य पदार्थों में ममता को न जोड़ कर अपना प्रयोगाधिकार समझना।

(३) किसी की वस्तु या स्वत्व का अपहरण न करना।

(४) सदैव कर्म करना, उन्हें निष्कामता को लक्ष्य में रखकर धर्म या कर्त्तव्य समझ कर करना।

(५) आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर से आचरण करना।

**अनेजदेकं मनसो जवीयो**
**नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।**
**तद्धावतोऽन्यानत्येति**
**तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥**

भाषार्थ—वह (ब्रह्म) (अनेजत्) अचल, एकरस (एकम्) एक (मनसो जवीयः) मन से अधिक वेगवाला है क्योंकि सब जगह (पूर्वम्) पहले से (अर्षत्) पहुँचा हुआ है। (एनम्) उस ब्रह्म को (देवाः) इन्द्रियां (न आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होतीं, अर्थात् वह इन्द्रियों से, उन (इन्द्रियों) का विषय न होने के कारण, प्राप्त नहीं होता। (तत्) वह (तिष्ठत्) अचल होने पर भी (धावतः) दौड़ते हुए (अन्यान्) अन्यों को (अत्येति) उल्लंघन किये हुए है, (तस्मिन्) उस ब्रह्म के भीतर (मातरिश्वा) वायु (अपः) जलों को (मेघादि के रूप में) (दधाति) धारण करता है।

**तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।**
**तदन्तरस्य सर्वस्य तद सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥**

भाषार्थ—(तत्) वह ब्रह्म (एजति) गति देता है। (तत्) परन्तु स्वयं (न एजति) गति में नहीं आता (तत्) वह (दूरे) दूर है, (तत्, उ अन्तिके) वह समीप भी है। (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य, अन्तः, बाह्यतः) इस सबके अन्दर और बाहर भी है।

**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।**
**सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥**

भाषार्थ—(यःतु) जो कोई (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) चराचर जगत् को (आत्मनि, एव) परमेश्वर ही में (अनुपश्यति) देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण चराचर जगत् में (आतमानम्) परमेश्वर को देखता है। (ततः) इससे वह (न विजुगुप्सते) निन्दित नहीं होता।

**यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।**
**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥**

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस अवस्था में (विजानतः) विशेष ज्ञानप्राप्त योगी

की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण चराचर जगत् (आत्मा, एव) परमात्मा ही (अभूत्) हो जाता है (तत्र) उस अवस्था में ऐसे (एकत्वम्, अनुपश्यतः) एकत्व देखने वाले को (कः मोहः) कहाँ मोह (कः शोकः) और कहाँ शोक ?

**स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-**
**मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।**
**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-**
**ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥**

भाषार्थः—(सः) वह ईश्वर (परि, अगात्) सर्वत्र व्यापक है, (शुक्रम्) जगदुत्पादक, (अकायम्) शरीररहित, (अव्रणम्), शारीरिक विकाररहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी और नस के बन्धन से रहित, (शुद्धम्) पवित्र, (अपापविद्धम्) पाप से रहित (कविः) सूक्ष्मदर्शी (मनीषी) ज्ञानी, (परिभूः) सर्वोपरि वर्त्तमान, (स्वयम्भूः) स्वयंसिद्ध (शाश्वतीभ्यः) अनादि (समाभ्यः) प्रजा (जीव) के लिए (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक (अर्थान्) कर्म-फल का (व्यदधात्) विधान करता है ।

व्याख्या

कर्त्तव्य-पंचक का विवरण दिया जा चुका है । उस विवरण में कहा गया था कि इन पाँच कर्त्तव्यों के पालन करने से मनुष्य ब्रह्म-विद्या में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर लेता है । अब प्रश्न यह है कि वह ब्रह्म-विद्या क्या है जिसमें प्रवेश की इच्छा कम से कम आस्तिक जगत् को रहती है । जिस विद्या में ब्रह्म का वर्णन हो वह ब्रह्म-विद्या कही जाती है । ब्रह्म का वर्णन उसके गुणों द्वारा होता है और उसके गुण वर्णनातीत हैं । फिर उसके समस्त गुणों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? यह प्रश्न है, जो सदैव ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी को चक्कर में डाल देता है । परन्तु उपनिषदों में इसका अच्छा खासा समाधान मिलता है । जब हम कहते हैं कि हम ब्रह्म-विद्या को प्राप्त करना चाहते हैं तो विचारणीय यह है कि इस ब्रह्म-विद्या के प्राप्त करने से हमारा उद्देश्य क्या है ? हमारा उद्देश्य कदापि यह नहीं हो सकता कि हम ब्रह्म की नाप-तोल करना चाहते हैं अपितु एकमात्र उद्देश्य यह होता और हो सकता है कि हम अपनी उन्नति करें । और उन्नति की चरम सीमा यह है कि ब्रह्म को प्राप्त कर लें । बस, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन साधनों की अपेक्षा है उनको प्राप्त करना चाहिए । यदि ब्रह्म के केवल १० गुणों के जानने से हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता है, तो ग्यारहवें गुण के जानने के लिए श्रम करना अनावश्यक है । इसलिए उपनिषदों ने ब्रह्म के केवल उन्हीं गुणों के जान लेने की शिक्षा दी है, जो मनुष्य को उन्नति पथ पर पहुँचा देने के लिए पर्याप्त हैं ।

सबसे पहिली शिक्षा ब्रह्म के विषय में यह है कि तुम उसे व्यक्ति रूप में न मानकर समष्टि रूप में मानो, अर्थात् वह विभु है, परिच्छिन्न नहीं, सर्वदेशी है, एकदेशी

नहीं। इस बात का मनवाना उपनिषद् ने इतना अधिक आवश्यक समझा है कि इसको अनेक रीति से वर्णन किया है। हम उसका यहाँ थोड़ा-सा विवरण देते हैं :—

उपनिषद् ने बतलाया है कि तुम उसे 'अनेजत्' (एकरस) समझो। विचार करके देख लो कि एकरस सदैव सर्वदेशी ब्रह्म ही हो सकता है। फिर उपनिषद् ने इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिये ब्रह्म के निम्न गुणों का वर्णन किया है :—

१. वह मन से भी अधिक वेग वाला है, क्योंकि वह प्रत्येक जगह पूर्वमर्षत् पहले से ही पहुँचा हुआ रहता है। इसलिये सर्वदेशी है।

२. इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ एकदेशी वस्तु का ही ज्ञान कर सकती हैं।

३. सर्वदेशी होने से ठहरा हुआ ही, अन्य दौड़ते हुओं का उल्लंघन किये हुए है।

४. उसी ब्रह्म के अन्तर्गत वायु जलों को बादल के रूप में धारण किये हुए रहता है। जगत् का कोई भाग ऐसा नहीं है कि जहाँ वायु न हो। जहाँ कहीं स्पष्ट रूप से वायु नहीं होता, वहाँ आकाश (Ether) होता है। इस प्रकार से जगद्व्यापी वायु उसी ब्रह्म के अन्तर्गत अपना कार्य करता है।

५. वह गति देता है परन्तु स्वयं गति में नहीं आता। ब्रह्म का सृष्टि-कर्त्तव्य केवल इतने ही से प्रारम्भ होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय जब प्रलय के बाद जगत् उत्पन्न होता है और प्रकृति विकृति होना चाहती है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शान्त और स्तब्ध प्रकृति में एक गति का संचार करता है, जिससे प्रकृति की शान्ति और स्तब्धता भंग होकर क्रमश: सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होकर प्रलय, सृष्टि रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसी गति को विज्ञान में गति-शक्ति (Energy) नाम दिया गया है। पंचभूत, प्रकृति और ब्रह्म प्रदत्त गति के संघात का नाम है, "Matter Combined with Energy"। यहाँ एक शंका उत्पन्न हुआ करती है कि गति के लिए गतिदाता से पृथक् कुछ आकाश (Space) होना चाहिए, तभी तो वह गति दे सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ब्रह्म को उस गति के देने के लिए किसी प्रकार की हरकत करने की कोई जरूरत नहीं होती, और न उसमें हरकत होती है, क्योंकि वह एकदेशी नहीं, सर्वदेशी है। यह गति जो प्रकृति में एक आलमगीर हलचल पैदा कर देती है, ब्रह्म के केवल ईक्षण (प्राप्त वस्तु को कार्य में लगाने की इच्छा) मात्र से, बिना किसी हरकत के, उत्पन्न हो जाती है। पश्चिमी वैज्ञानिक भी इच्छा से गति होने के सिद्धान्त का "Will precedes motion" कहकर समर्थन करते हैं। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म इस प्रकार की गति का दाता होने पर भी स्वयं गति में नहीं

आता। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू[1] ने भी उपनिषद् के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। अरस्तू ने आमतौर से ईश्वर को Unmoved mover कहा है।

६. वही दूर है वही समीप है, वही सबके भीतर और वही सबके बाहर है अर्थात् सब जगह है।

७. जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतों—चराचर जगत् को उस ब्रह्म के अन्दर और ब्रह्म को उन सम्पूर्ण भूतों के अन्दर देखता है वह घृणारहित हो जाता है। इसी का नाम विश्व-प्रेम है जो उपनिषद् की पहली ही शिक्षा के अन्तर्गत है और जिसे ब्रह्म-विद्या का पहला ही पाठ कहना चाहिए। जब ब्रह्म प्रत्येक प्राणी के अन्तर्गत है, तब प्रत्येक प्राणी के शरीर ईश्वर के मंदिर ही हुए और इसीलिये सबको प्रत्येक प्राणी से प्रेम करना पड़ता है और इसीलिये वह सबके प्रति घृणारहित हो जाता है।

(८) यह ब्रह्म सर्वत्र पहुँचा हुआ है और शरीर रहित फोड़े-फुंसी के विकारों से पाक (रहित) और नाड़ी-नस के बन्धन से पृथक् और सर्वव्यापक है।

इस प्रकार हमने देख लिया कि नौ प्रकार से वर्णन करके उपनिषद् ने इस शिक्षा को अधिक से अधिक स्पष्ट किया है :—

१. ब्रह्म सर्वदेशी है। यह ब्रह्म का पहला गुण है जो ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी के हृदय में सबसे पहले अंकित हो जाना चाहिये। बिना इसको समझे बिना इस पर श्रद्धा और विश्वास किये, हम ब्रह्म-विद्या के स्वच्छ और उन्नत पथ की ओर कदम भी नहीं बढ़ा सकते।

२. ब्रह्म का दूसरा गुण एकत्व है, अर्थात् ब्रह्म एक ही है। दूसरा, तीसरा, चौथा आदि नहीं, इसका उपासक को दृढ़ विश्वास होना चाहिए।

३. ब्रह्म का तीसरा गुण 'शुक्रम्' अर्थात् जगत् का आदि-मूल कारण होना है।

४. चौथा 'शुद्धम्' गुण है, अर्थात् ब्रह्म की शुद्धता को लक्ष्य में रखते हुए ब्रह्म की समीपता प्राप्त करने के लिये उपासक को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा और निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए, तभी वह ब्रह्म-विद्या का विद्यार्थी बन सकता है।

५. पाँचवा गुण 'अपापविद्धम्' है। मनुष्य को भी निष्पाप बनने के लिए पाप के मूल विपरीत-मिथ्या-ज्ञान का बहिष्कार करना चाहिए।

---

१. God is merely the source of movement, the First mover (आदिकारण) Who himself is never moved. (The AGE of Aristotle P. 46)

६. 'कवि' छठा गुण ब्रह्म का है। कवि, क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञ को कहते हैं।

७. 'मनीषी' ब्रह्म का सातवाँ गुण है, जो ब्रह्म के पूर्ण ज्ञानी होने की घोषणा करता है।

८. 'स्वयम्भू' गुण प्रकट करता है कि ब्रह्म अपनी सत्ता से आप स्थिर (कायम-बिल्ज़ात) है, किसी का मुहताज नहीं।

९. 'फलदाता' गुण अर्थात् ब्रह्म अपनी अनादि प्रजा जीव के कर्मों के फलों का 'याथातथ्यत:' ठीक-ठीक विधान किया करता है। कर्म का फल न्यून या अधिक नहीं हो सकता।

बस, उपनिषदों ने मनुष्यों के लिये इन्हीं नौ गुणों का जान लेना और उनको अपने अन्त:करण में धारण कर लेना, अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति तक के लिये पर्याप्त बतलाया है। ब्रह्म को हम किस प्रकार अपने हृदय में धारण करें अथवा यों कहिये कि हम किस प्रकार अपने आत्मा को उन्नत करें, इसके लिये उपासक को इन गुणों का मानसिक जप करना होगा। केवल मुंह से किसी शब्द का रटना जप नहीं है, किन्तु हृदय से उस शब्द के अर्थ का चिन्तन, जप का उत्तरार्द्ध और जप का मुख्य और आवश्यक अंग है।[१] आत्मा की उन्नति या ब्रह्म की प्राप्ति के उद्योग का आरम्भ इसी जप से होता है। इस जप से उपासक का आत्मा ईश्वरीय गुणों से भासित होता है और उसमें गुण-वृद्धि हुआ करती है। इसी को उपासना का पहला अंग भी कहते हैं। उपासना का दूसरा और अन्तिम अंग ब्रह्म को हृदय में धारण कर लेना है। पहले अंग में जहाँ वाचक (शब्द) को समझते हुए हृदय में रखा जाता है, दूसरे अंग में हृदय को वाच्य (अर्थ) का मन्दिर बनाना पड़ता है, अर्थात् वाच्य को हृदय (आत्मा) में रखा जाता है। ब्रह्म विद्या के पहले अंग की प्राप्ति के उद्योग का सूत्रपात सन्ध्या से किया जाता है, और दूसरे अंग की पूर्ति अष्टांग योग के अंतिम अंगों से होती है। सन्ध्या को भी सन्ध्यायोग इसीलिये कहते हैं। सन्ध्या के उपासकों को भी निम्न योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए :—

१. शारीरिक उन्नति अर्थात् समस्त इन्द्रिय बलवान्, पवित्र और यशवाली होनी चाहिए।

२. मानसिक उन्नति: अर्थात् हृदय द्वेष से रहित होना चाहिये और प्राणायामादि के द्वारा उसमें प्रत्याहार की प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न हो जानी चाहिये।

---

१. तज्जपस्तदर्थभावनम् (योग दर्शन)

३. आत्मिक उन्नति: इसके लिए उपासना के प्रथम अंग, वाचक (शब्द) को हृदय में धारण करने का अभ्यास करना चाहिये।

इतना कार्य सन्ध्या से हुआ करता है और इसी के लिये संध्या की जाती है और करनी चाहिये। वाचक (शब्द) के हृदय में धारण करने का फल यह होता है कि मनुष्य का हृदय ईश्वरीय गुणों के आलोक से आलोकित हो उठता है, और विश्व प्रेम का आभास होने लगता है। जप अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। इससे स्मृति का भी विकास होता है। योग के इस सिद्धान्त को पश्चिम के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इंग्लैंड के प्रसिद्ध राजनेता ग्लेडस्टोन के लिये कहा जाता है कि उसने सम्पूर्ण होमर-कृत इलियट को रट रखा था। जहाँ से कोई चाहे वह सुना सकता था। इसी से उसकी स्मृति बहुत उच्च कोटि की थी। परन्तु जप का अर्थ केवल Cat (बिल्ली) और Dog (कुत्ता) के अर्थ का रटना नहीं है। वह जप, जिसका ऊपर विधान किया गया है, चित्त के उन्नत करने का साधन और मुख्य साधन है।

ब्रह्म को किस प्रकार उपासक (योगी) हृदय में धारण कर सकता है? यह बात है जो ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है और यह पाठ उपनिषद् ने इस प्रकार दिया है कि :---

"जिस अवस्था में समस्त चराचर जगत् को योगी परमेश्वर हुआ ही जानने लगता है, तब ऐसे एकत्व को देखने वाला (योगी) मोह और शोक से छूट जाता है।"

उपनिषद्-वाक्य एक अवस्था-विशेष का संकेत करता है। वह अवस्था कौन सी है? यही प्रश्न है, जिस पर विचार करना है। योग के अङ्गों में प्राणायाम के पश्चात् पाँचवें अंग से शरीर के भीतर इष्ट परिवर्तनों के करने का विधान है, मनुष्य की शक्ति अन्तः और बाह्य कारणों में साधारणतया फैली हुई रहती है और इसीलिये योगी के सिवाय कोई मनुष्य अपनी पूर्णशक्ति को किसी काम में नहीं लगा सकता। जब योगी अपनी समस्त शक्तियों को भीतर एकत्रित करना चाहता है तब यह उद्देश्य प्रत्याहार के अभ्यासों द्वारा पूरा किया जाता है। प्रत्याहार समस्त शक्ति को केन्द्रित करने की कार्य-प्रणाली ही का नाम है। उस समस्त (प्रत्याहार द्वारा) एकत्रित शक्ति को किसी एक लक्ष्य पर लगा देने का नाम धारणा है और उसी एकत्रित शक्ति को किसी एक स्थान पर न लगाकर आत्मा में लगा देने का नाम ध्यान है, और इसी की उच्चावस्था को समाधि कहते हैं। इस प्रकार समस्त शक्ति को आत्मा में लगा देने को ध्यान कहा गया है, परन्तु योगी आत्मा में शक्तियों को लगाने का कोई साक्षात् यत्न नहीं कर सकता। हाँ, इस कार्य की पूर्ति असाक्षात् यत्नों से हुआ करती है अर्थात् कोई भी अपनी शक्तियों को साक्षात् यत्नों से आत्मा के अन्दर लगा नहीं सकता, परन्तु विशेष अवस्था के उत्पन्न कर लेने से वह शक्ति स्वयमेव आत्मा में लग जाया करती है। उसी असाक्षात् यत्न का नाम ध्यान है। ध्यान के समझने में आमतौर से गलती की जाया करती है। निराकार ईश्वर के ध्याव

की बात आते ही लोग कहने लगते हैं कि जिसकी कोई शक्ल नहीं, सूरत नहीं, भला किस प्रकार कोई उसका ध्यान कर सकता है ? ऐसे पुरुषों के मतानुसार ध्यान किसी बाह्य रूप-रंग वाली वस्तु को भीतर हृदय में लाने का नाम है परन्तु बात सर्वथा इसके विपरीत है। ध्यान बाहर से किसी वस्तु को भीतर लाने को नहीं कहते किन्तु भीतर (हृदय में) जो कुछ भी हो उस सबको निकाल कर बाहर फेंक देने का नाम ध्यान है। इसीलिये सांख्य के आचार्य कपिल ने कहा है—

**"ध्यानं निर्विषयं मनः।"**

अर्थात् सांख्या की परिभाषानुसार ध्यान मन को निर्विषय करने को कहते हैं। मन को निर्विषय करने का अर्थ यह है कि मन का इन्द्रियों से काम लेना, जिससे जाग्रतावस्था बना करती है, छूट जाय, तथा मन का अपने भीतर काम करना भी—जिससे स्वप्नावस्था निर्मित होती है—बन्द हो जावे।

इसका तात्पर्य यह है कि जाग्रतावस्था ही में योगी अपनी वह अवस्था बना ले जो सुषुप्ति में हुआ करती है और जिसमें मन पूर्ण रीति से निष्क्रिय (निर्विषय) हुआ करता है। आत्मा की दो प्रकार की शक्तियाँ हैं, एक वह जो सूक्ष्म और स्थूल शरीर द्वारा, जगत् में काम करती है और जिसे आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं। दूसरी वह जो आत्मा के अन्दर काम करती है और जिसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति है। दोनों वृत्तियों में से एक वृत्ति प्रत्येक समय काम किया करती है। न दोनों वृत्तियाँ एक साथ काम करती हैं और न दोनों एक साथ बन्द हो जाती हैं। यदि एक वृत्ति बन्द कर दी जावे, तो दूसरी स्वयमेव काम करने लगती है।

बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द करने का नाम ही मन का निर्विषय करना है, मन के निर्विषय करने के साधन ध्यान के अभ्यास हैं। इस प्रकार मन के निर्विषय हो जाने मात्र से आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाती है। जिस प्रकार नहर का फाटक बन्द कर देने से समस्त जल स्वयमेव नदी की धारा में प्रवाहित होने लगता है और इस अन्तिम कार्य के लिये किसी प्रकार का यत्न अपेक्षित नहीं होता, इसी प्रकार नहर रूपी बाह्य वृत्ति बन्द होने से आत्म-रूपी नदी में अन्तर्मुखी वृत्ति-रूप जल स्वयमेव प्रवाहित हो जाता है।

यही वह अवस्था है जिसका उपर्युक्त मन्त्र में उल्लेख है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने ही से योगी एकत्वदर्शी हो जाता है। ध्यान की अवस्था में ध्याना-वस्थित योगी समझता है कि वह ध्याता है और किसी ध्येय की प्राप्ति के लिये ध्यान-रूपी क्रियायें करता है। परन्तु जब ऊँची समाधि अवस्था में पहुँचता है, तब ध्याता और ध्यान दोनों का ज्ञान तिरोहित हो जाता है और केवल ध्येय (ईश्वर) ही उसके समस्त ज्ञान का लक्ष्य रह जाता है और उस समय योगी की वही अवस्था होती है जिसके लिए मुंडकोपनिषद् में कहा गया है :—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ मं० २।२।११

अर्थात् (इदम् अमृतम्) यह अमृत रूप (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है (पुरस्ताद् ब्रह्म) आगे ब्रह्म है (पश्चात् ब्रह्म) पीछे ब्रह्म है (दक्षिणतः) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बाएं (अधः) नीचे (च) और (उर्ध्वं) ऊपर भी (प्रसृतम्) फैला हुआ है, (इदम् विश्वम्) यह सब विश्व (इदम् वरिष्ठम्) यह अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है। भाव इसका यह है कि उस ज्ञानी को सब ओर ब्रह्म ही दिखाई देता है। इसी अवस्था के लिये एक कवि ने कहा :—

"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।"

उपनिषद् के इस भाव को कुछेक अन्य कवियों ने सुन्दरता से अपनी कविताओं में समाविष्ट किया है—

दिया अपनी खुदी[1] को जो हमने मिटा।
वह जो परदा-सा बीच में था, न रहा॥
रहा परदे में अब न वो परदा-नशीं।
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा॥१॥

जलवे से तिरे भर गईं, इस तरह से आँखें।
हो कोई भी, आता है फक़त तू ही नजर में॥२॥

आप ही आप हैं यां, गैर का कुछ काम नहीं।
जातेमुत्लक[2] में तिरे शक्ल नहीं नाम नहीं॥३॥

याद में उनकी, ऐसे महव[3] हुए।
अपनी सुध बुध रही न कुछ बाकी॥४॥

बेखुदी[4] छा जाये ऐसी दिल से मिट जाये खुदी।
उनके मिलने का तरीका, अपने खो जाने में है॥५॥

जब[5] मैं थी तब हर नहीं जब हर तब मैं नाय।
प्रेम-गली अति सांकरी ता में दो न समाय॥६॥

---

१. खुदी=अहङ्कार।
२. जातेमुत्लक=ईश्वर की असीम सत्ता।
३. महव=लवलीन।
४. बेखुदी=निरहंकारिता।
५. मैं=मेरे-तेरे पन का भाव, ममता।

इक जान होके चलते हैं, मैं तू को छोड़कर ।
उलफत की तंग राह में दो की गुजर नहीं ।।७।।

समस्त चराचर जगत् में योगी ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं देखता । जब उसने अपने प्रेमपात्र के प्रेम के आधिक्य में अपनी ही सुध-बुध विसार दी है, तब प्रकृति के ईंट-पत्थरों की उसे किस प्रकार चिंता रह सकती है और वह कैसे मोह, शोक के बन्धन में रह सकता है ? यही ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है कि जिसमें जीव अपनी सत्ता कायम रखते हुए भी उससे बे सुध-सा रहता है, और ध्येय (ब्रह्म) के सिवा कुछ भी उसकी स्मृति, ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता । इसी अवस्था के प्राप्त कर लेने पर योगी का नाम जीवन्मुक्त हो जाता है और इसी अवस्था वाले योगी शरीर के छूटने पर आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं । इसी अवस्था पर पहुँचे हुए योगी के लिए उपनिषद् में कहा गया है—"स यो ह वै तत्परम् ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।" (मुण्डकोपनिषद् ३।२।९) अर्थात् वह, जो इस परब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है । कई विद्वान् इसका अर्थ करते हुए कह दिया करते हैं कि ब्रह्मवित् ब्रह्म के सदृश हो जाता है । परन्तु इस प्रकार के अर्थ करने की जरूरत नहीं । इस वाक्य में प्रयुक्त 'भवति' क्रिया से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ है तो वह आदि ब्रह्म हुआ, परन्तु जिस ब्रह्म के जानने से ब्रह्मवित् हुआ है वह अनादि ब्रह्म है । यह अन्तर सदैव ब्रह्म और ब्रह्मवित् में बना रहता है ।

**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।**
**ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ।।९।।**

**भाषार्थ**— (ये) जो (अविद्याम्) कर्म को (ज्ञान की उपेक्षा करके) (उपासते) सेवन करते हैं, वे (अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं । (ये उ) और जो (कर्म की उपेक्षा करके केवल) (विद्यायाम्) ज्ञान में (रता :) रमते हैं (ते) वे (ततः) उससे (भूयः इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं ।

**अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।**
**इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१० ।।**

**भाषार्थ**—(विद्यायाः) ज्ञान का (अन्यत् एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (अविद्यायाः ) कर्म का (अन्यत् एव) और ही फल (इति) (नः) ऐसा हम (धीराणाम्) धीर पुरुषों से (शुश्रुम) सुनते हैं । (ये) जो हमारे लिये (तत्) उसका (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं ।

**विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह ।**
**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।११।।**

भावार्थ— (यः) जो (विद्याम् च, अविद्याम् च) ज्ञान और कर्म (तत् उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ-साथ (वेद) जानता है वह (अविद्यया) कर्म से मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (विद्यया) ज्ञान से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों में विद्या और अविद्या का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त वर्णन किया गया है। यहीं से उपनिषद् का तीसरा भाग प्रारम्भ होता है, जिसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है।

विद्या ज्ञान को कहते हैं, यह तो निर्विवाद ही है। अविद्या के दो अर्थ किये जाते हैं—एक पारिभाषिक, दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्रायः अविद्या का पारिभाषिक अर्थ, 'मिथ्याज्ञान' लिया जाता है। परन्तु अविद्या का यौगिक अर्थ 'विद्या से भिन्न' है, (अविद्या) जो विद्या अर्थात् ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान नहीं वह क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इन मन्त्रों का देवता (मन्त्र का विषय) देता है। इन मंत्रों का देवता आत्मा है। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म ही हैं। इच्छा द्वेषादि चार चिह्न हैं जो, शरीर में आत्मा के होने के समझे जाते हैं। शरीर की बनावट भी आत्मा के स्वाभाविक गुणों की साक्षी है। शरीर में दो ही प्रकार की इन्द्रियाँ हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के कर्म गुण को सार्थक करने के लिए हैं। यदि तीसरा कोई स्वाभाविक गुण और होता तो शरीर में तीसरे प्रकार का अन्य इन्द्रिय-समुदाय भी उस गुण के साधन रूप होने के लिए बना हुआ दृष्टिगोचर होता। अतः आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म दो ही हैं। विद्या ज्ञान को कहते हैं जैसा कि कहा जा चुका है और ज्ञान से भिन्न का नाम मन्त्र में अविद्या प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान से भिन्न कर्म ही है। इसलिए स्पष्ट हो गया कि अविद्या का अर्थ कर्म है। अब इन मन्त्रों का अर्थ भी साफ हो गया कि केवल ज्ञान का या केवल कर्म का सेवन करना, अन्धकार में पड़ना है। सिद्धान्त यह है कि विज्ञान और कर्म दोनों का प्रयोग साथ-साथ करना चाहिए। वेदों का यह शाश्वत सिद्धांत है जो तीनों कालों में एक जैसी उपयोगिता रखता है। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कार्य में परिणत करना ही मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है। इसलिए वेद नित्योपयोगी (Uptodate) समझे जाते हैं।

## मन्त्रों की विशेषता

इन मन्त्रों की एक विशेषता है, और यही विशेषता वेदों की महत्ता की द्योतक है। वह विशेषता यह है कि अन्तिम मन्त्र में, ज्ञान और कर्म का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है, और यह उद्देश्य सबसे बड़े बन्धन—मृत्यु के बन्धन—से

पार होकर अमरता को प्राप्त करना है । आधुनिक कर्म और ज्ञान तथा वेदों के कर्म और ज्ञान में यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म, साइन्स (Science) और आर्ट (Art) हैं । एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) के शब्दों में (Science consists in knowing) और (Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्म ही का नाम है ।

## आधुनिक ज्ञान और कर्म उद्देश्य रहित हैं

परन्तु इन ज्ञान और कर्म का कोई उद्देश्य नहीं है । इसलिए ये मृत्यु के बन्धन को छुड़ाने की जगह उस वन्धन को और भी दृढ़ करने के काम में लगे हुए हैं । इस समय साइन्स के एक वड़े और महत्त्वपूर्ण विभाग का कार्य, युद्ध से सम्बन्धित (Chemical Warfare Service) केवल यह है कि नई-नई जहरीली गैसों और बम बनाने के तरीकों की खोज और ईजाद करे । टी. ए. एडीसन (T.A. Edison) महाशय. जो वर्तमान काल के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में समझे जाते हैं, लिखते हैं कि जहरीली गैस—जो अमरीका में बनाई गई थी और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है—ऐसी घातक है कि यदि वह एक छोटे हवाई जहाज के बेड़े से लण्डन नगर पर, जो पृथ्वी का सबसे बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ८० लाख के लगभग है—छोड़ी जावे, तो तीन घण्टे में उसे नष्ट कर देगी। अमरीका की १९१८-२० तक की उपर्युक्त विभाग की रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट रीति से वर्णित है कि जहरीली गैसें अमेरिका में ८१० टन, इंग्लैण्ड में ४१० टन और जर्मनी में २१० टन प्रति सप्ताह तैयार होती हैं। ये सब गैसें इसीलिए जमा की जा रही हैं और ऐटामिक बम (Atomic Bomb) इसलिए बनाया गया है कि भावी, अनिवार्य युद्ध में शीघ्र-से-शीघ्र, अधिक-से-अधिक मनुष्यों का संहार किया जा सके । अस्तु, हमने देख लिया कि उद्देश्यरहित होने से, आधुनिक पश्चिमी जगत् के ज्ञान और कर्म, किस प्रकार प्राणियों के संहार करने में लगे हुए हैं, जब कि वेदों के ज्ञान और कर्म मनुष्यों को अमर बनाने के उत्कृष्टतम साधन हैं ।

## ज्ञान से कर्म की विशेषता

पहले मन्त्र में एक बात और भी है, जिस पर ध्यान देना चाहिए और वह बात यह है कि मन्त्र में कहा गया है कि जो केवल ज्ञान का सेवन करते हैं, वह उनसे अधिक अन्धकार में पड़ते हैं जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं । इसका कारण यह है कि ज्ञानमात्र का कोई फल नहीं मिलता, परन्तु कर्म जितना भी करेगा चाहे वह कितना भी उल्टा-सीधा क्यों न हो, उसका कुछ न कुछ फल अवश्य ही मिलता है । इसलिए उपनिषद् की शिक्षा में कर्म का बहुत ऊँचा स्थान है, यह बात कभी किसी अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी को नहीं भूलनी चाहिए । यहीं से गीताकार ने कर्मयोग की शिक्षा ली है ।

मनुष्य के पहले कर्त्तव्य का विधान विद्या-अविद्या सम्बन्धी तीन मन्त्रों में कर दिया गया। इस कर्म और ज्ञान का क्षेत्र क्या होना चाहिए, इसका वर्णन आगे के तीन मन्त्रों में किया गया है। इन मन्त्रों का भाव समझना और उनमें वर्णित शिक्षानुकूल आचरण करना मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य है। इन दो कर्त्तव्यों से भिन्न मनुष्य-जीवन का और कोई भी ऐसा कर्त्तव्य, जो इसके कल्याण के लिए अपेक्षित हो, बाकी नहीं रहता। इन्हीं में सबका समावेश है। दूसरे कर्त्तव्य के विधायक तीन मन्त्र ये हैं :—

**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।**
**ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥**

भाषार्थ—(ये) जो (असम्भूतिम्) कारण प्रकृति—कारण शरीर का (अन्य शरीरों की उपेक्षा करके) (उपासते) सेवन करते हैं, वे (अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं, (ये उ) और जो (सम्भूत्याम्) कार्य प्रकृति—सूक्ष्म शरीर+स्थूल शरीर में (कारण शरीरों की उपेक्षा करके) (रताः) रमते हैं (ते) वे (तत्) उससे (भूय, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

**अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।**
**इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥**

भाषार्थ—(सम्भवात्) कार्य्य प्रकृति—स्थूल शरीर का (अन्यत् एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) और कारण प्रकृति—कारण शरीर से (अन्यत्, एव) और ही फल, (आहुः) कहते हैं। (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीर पुरुषों के (वचन) (शुश्रुम) हम सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे लिए (तत्) उन (वचनों) का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं।

**सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद् वेदोभयँसह।**
**विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥**

भाषार्थ—(यः) जो कोई (सम्भूतिम्) कार्य रूप प्रकृति=सूक्ष्म×स्थूल शरीर (च) और (विनाशम्) कारण रूप प्रकृति=कारण शरीर (तत् उभयम्) उन दोनों को (सह) साथ-साथ (वेद) जानता है, वह (विनाशेन) कारण शरीर से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (सम्भूत्या) कार्य शरीर से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

**व्याख्या**

इन मन्त्रों का मुख्य विषय सम्भूति और असम्भूति का ज्ञान है। सम्भूति कार्य प्रकृति और असम्भूति कारण स्वरूप प्रकृति को कहते हैं। तीसरे मन्त्र में

असम्भूति की जगह विनाश शब्द आया है। 'वि' उपसर्ग 'हाँ' और 'नहीं' दोनों अर्थों में आता है। जैसे विधर्म और विदेश आदि। यहाँ भी 'वि' निषेधक ही है। अर्थात् जिसका नाश न हो सके वह विनाश है। इस प्रकार यह शब्द असम्भूति का पर्याय-वाचक ही ठहरता है, परन्तु ये असम्भूति और सम्भूति शब्द जब आत्मा से सम्बन्धित होते हैं, तब इनके अर्थ कारण और कार्य होते हैं। कारण शरीर की कल्पना घटाकाश-मठाकाशवत् है। जगत् में व्यापक कारण रूप प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर है उसी का कल्पित नाम कारण शरीर है। कार्य शरीर दो हैं—सूक्ष्म और स्थूल। इन तीनों के काम पृथक्-पृथक् हैं—

(१) स्थूल शरीर—सूक्ष्म शरीर का साधन है। उसी के द्वारा विषयमय जगत् से, सूक्ष्म शरीर का संबन्ध होता है, स्थूल शरीर के विकसित और पुष्ट होने से शारीरिकोन्नति होती है। राममूर्ति और सैण्डो आदि इसके उदाहरण हैं।

(२) सूक्ष्म शरीर १७ वस्तुओं के समुदाय का नाम है—

५ ज्ञानेन्द्रिय<br>
५ सूक्ष्म विषय=तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध)<br>
५ प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान)<br>
१ मन<br>
१ बुद्धि

———

योग १७

सूक्ष्म शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मानसिकोन्नति होती है। यही मानसिकोन्नति किये हुए पुरुष जाति के नेता, राजा और उच्च राज्य कर्मचारी हुआ करते हैं और कारण शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य में ईश-प्रेम आता है और वह भक्त और योगी बना करता है। आशय यह है कि तीनों प्रकार के शरीरों का इतना विवरण जान लेने से इन मन्त्रों के अर्थ समझ लेने में सुगमता हो जाती है। मन्त्र कहता है कि यदि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की उपेक्षा करके केवल कारण शरीर की उन्नति चाहते हो तो अन्धकार में पड़ना पड़ेगा, क्योंकि बिना स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के उन्नत हुए कारण शरीर की उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। और यदि कारण शरीर की उपेक्षा करके केवल कार्य शरीर=स्थूल+सूक्ष्म शरीरों को उन्नत करना चाहते हो, तो भी भविष्य अन्धकारमय होगा, क्योंकि इससे नास्तिकता उत्पन्न होगी, जैसे चार्वाक और यूरोप के प्रकृतिवादी नास्तिक विद्वान्। इसीलिए तीसरे मन्त्र में, सिद्धान्त और कर्त्तव्य रूप से, यह शिक्षा दी गई है कि दोनों प्रकार के शरीरों की उन्नति साथ-साथ होनी चाहिये, तभी मृत्यु का बन्धन छूट सकता है। मृत्यु का बन्धन किस प्रकार छूट सकता है यही अन्तिम प्रश्न है, जो इन मन्त्रों के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर सुगमता से

समझ में आ जावे इसलिये हम इन शरीरों का एक कल्पित चित्र नीचे देते हैं:—

## तीनों शरीरों का चित्र

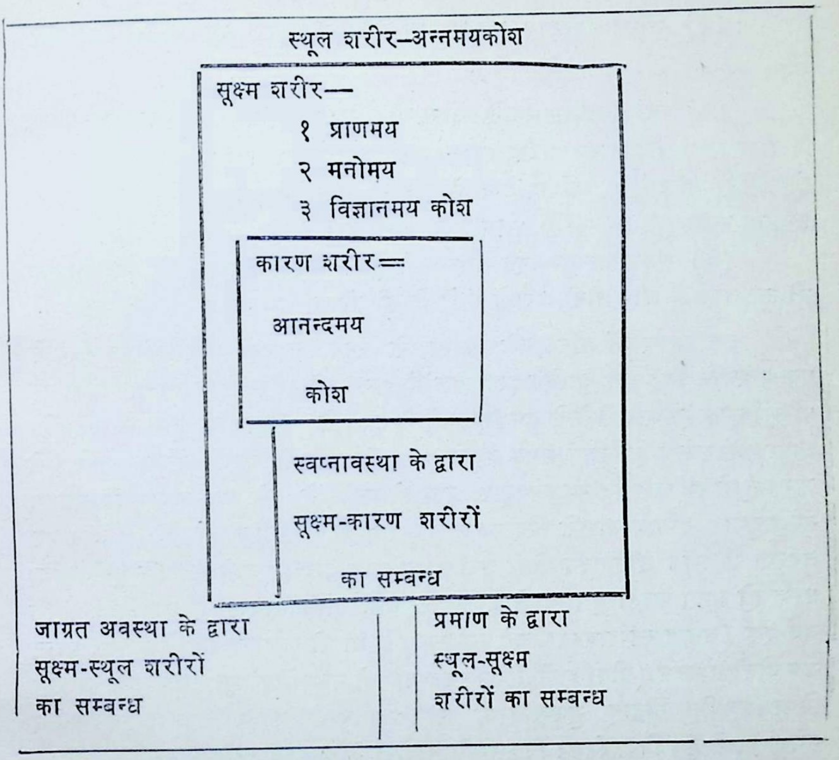


इन्हीं तीनों शरीरों का विभाग एक और प्रकार से किया गया है जिसे कोश कहते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) स्थूल शरीर—अन्नमय कोश।
(२) सूक्ष्म शरीर—१ प्राणमय, २ मनोमय, ३ विज्ञानमय कोश।
(३) कारण शरीर—आनन्दमय कोश

योग... ३ शरीर—५ कोष

इन तीनों शरीरों के दो सम्बन्ध हैं:—

(१) अवस्थाओं के द्वारा संबन्ध।
(२) प्राण के द्वारा सम्बन्ध।

## पहले सम्बन्ध पर विचार

पहला सम्बन्ध जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं द्वारा होता है, जिसका विवरण इस प्रकार है:—

(१) जाग्रत अवस्था—इस अवस्था में तीनों शरीरों का संबन्ध बना रहता है।

(२) स्वप्नावस्था—इसमें सूक्ष्म और स्थूल शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है, परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर का सम्बन्ध बना रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाता है, परन्तु मन का कार्य जारी रहता है, इसलिए मनुष्य इस अवस्था में स्वप्न देखा करता है।

(३) सुषुप्तावस्था—इस अवस्था में सूक्ष्म और कारण शरीरों का सम्बन्ध भी टूट जाता है और तीनों शरीरों में से किन्हीं दो का सम्बन्ध बाकी नहीं रहता।

इन अवस्थाओं और उनके सम्बन्ध के रहने, न रहने पर विचार करने से एक परिणाम निकलता है, जिसपर प्रत्येक विचारक को पहुँचना पड़ता है, और वह परिणाम यह है कि शरीरों के इन सम्बन्धों के टूटने से मनुष्य को सुख और शान्ति प्राप्त हुआ करती है। जिस समय मनुष्य जाग्रत अवस्था के कामों से थक कर सो जाता है तो स्थूल शरीर का व्यवहार बन्द हो जाने से, उसे कुछ आराम मिलता है, तब मनुष्य स्वप्नावस्था से निकलकर सुषुप्तावस्था में पहुँच जाता है और इस अवस्था में, स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का काम बन्द हो जाने से उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाया करती है। इससे यह बात भली-भाँति समझ में आ जाती है कि जब एक (जाग्रत स्वप्नावस्था का) सम्बन्ध टूटा था तो कुछ आराम मिला था, परन्तु जब दोनों सम्बन्ध (तीनों शरीरों के) टूट गये तो मनुष्यों को पूरा सुख और आराम मिला। इसलिए विद्वान् सुषुप्तावस्था को मुक्तावस्था का आंशिक उदाहरण रूप समझा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि शरीरों के सम्बन्ध टूटने से सुख प्राप्त हुआ करता है।

## दूसरे सम्बन्ध पर विचार

इस परिणाम पर पहुँचने के बाद अब दूसरे सम्बन्ध पर विचार कीजिए। दूसरा सम्बन्ध स्थूल और सूक्ष्म शरीर का एकमात्र प्राण के द्वारा है, जिस सम्बन्ध के बने रहने का नाम जीवन और टूटने का नाम मृत्यु है। पहले सम्बन्ध पर विचार करते हुए हमने देख लिया है कि सम्बन्धों के टूटने से हमें सुख प्राप्त होता है। उसी परिणाम को लक्ष्य और उदाहरण में रखते हुए दूसरे सम्बन्ध पर विचार करें, तो सुगमता से यह बात समझ में आ जायेगी कि यदि वह दूसरा सम्बन्ध भी टूट जाय, तो उसका परिणाम भी यही निकलेगा कि मनुष्य को सुख मिले। इस कल्पना के लिए कि इस दूसरे सम्बन्ध के टूटने से मनुष्य को दुःख होगा,

संसार में कोई उदाहरण ही नहीं है। इसलिए दूसरे सम्बन्ध का टूटना रूप मृत्यु दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद है। यही उच्च शिक्षा है, जो उपनिषद् दुनियाँ को देना चाहती है। इस परिणाम पर मनुष्य तभी पहुँच सकता है, जब वह इन तीनों मन्त्रों में वर्णित कारण और कार्य तीनों प्रकार के शरीरों को अपने पुरुषार्थ का क्षेत्र समझ कर पहले कर्त्तव्य का पालन करते हुए उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे और उस प्राप्त ज्ञान को कार्य में परिणत करे। उस यथार्थता की प्राप्ति के लिए प्राणायाम मुख्य साधन है। उससे कार्य शरीरों का पूरा-पूरा विकास हुआ करता है।

इसलिए उनका कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है।[1]

प्राणायाम से शारीरिक उन्नति किस प्रकार होती है, इस बात के जानने के लिए एक दृष्टि, शरीर के अन्दर होने वाले अनिच्छित कार्यों में से, हृदय और फेफड़ों के कार्यों पर डालनी होगी।

### हृदय का स्थूल कार्य

इन शरीरों में दो प्रकार की अति सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। एक तो वे जो समस्त शरीर से हृदय में आती हैं और दूसरी नाड़ियाँ वे हैं, जो हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहली नाड़ियाँ शिराएँ और दूसरी धमनियाँ कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर में से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए हृदय में लाया कर। हृदय उस रक्त को शुद्ध करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है? इसका हेतु यह है कि समस्त शरीर के व्यापारों में इसका प्रयोग होता है और प्रयोग में आने से अशुद्ध हो जाता है। उसमें कुछ मैला-पन आ जाता है। शुद्ध रक्त में ओषजन (Oxygen) काफी मात्रा में रहता है परन्तु काम में आने से जब यह अशुद्ध हो जाता है, तब उसमें ओषजन की मात्रा नाममात्र रह जाती है और उसकी जगह एक विषैली वायु (Carbonic Acid Gas) रक्त में आ जाती है, और इसी परिवर्तन में रक्त का रंग मैला स्याही—माइल-सा हो जाता है।

### फेफड़े का काम

हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा पहुँचता है, तो हृदय उसे फेफड़ों में भेजता है। यहीं से फेफड़े का काम आरम्भ होता है। फेफड़ा स्पञ्ज की भाँति असंख्य छोटे-छोटे कोशों (Cells) का समुदाय है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है

---

१. प्राणायाम का विवरण यहाँ उदाहरण के तौर पर दिया गया है, जिससे समझ लिया जावे कि किस प्रकार शरीरों का ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्य में परिणत करना चाहिए।

कि एक शरीर में यदि लम्बाई-चौड़ाई में फेफड़ों के कोशों (घटकों) को फैला दिया जाय, तो उनका विस्तार चौदह सहस्र वर्गफुट होगा। वे कोश, एक मांसपेशी (डायफ्राम) की चाल से खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोश खुलते हैं तब एक ओर तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों मिलकर उसे भर देते हैं। अब इन कोशों में इस प्रकार से अशुद्ध रक्त और शुद्ध वायु दोनों एकत्र हो गये हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम यह है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती है। रक्त में तो शुद्ध वायु ओषजन नहीं है और श्वास के द्वारा लिए हुये वायु में कार्बन वायु नहीं है। इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तब उसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से ओषजन निकल कर रक्त में चला जाता है। फल यह होता है कि रक्त इस प्रकार शुद्ध और श्वास के द्वारा आया हुआ वायु अशुद्ध हो जाता है। शुद्ध रक्त हृदय में जाकर धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है, और अशुद्ध वायु निःश्वास द्वारा बाहर निकल आता है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

## हृदय की धड़कन

हृदय की धड़कन क्या वस्तु है? एक बार हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिये फेफड़े में जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापिस आना, बस इन्हीं दोनों क्रियाओं से, हृदय में धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ धड़कनें एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में हुआ करती हैं। विशेष अवस्थाओं में आयु के अन्तर से धड़कन की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। आमतौर से एक सेकिण्ड से कम समय में एक बार रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता और शुद्ध होकर वापिस चला जाता है। एक शरीर वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार २४ घण्टे में २५२ मन रक्त हृदय से फेफड़े में आता है, और इतना ही रक्त शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापिस चला जाता है। इस धड़कन से, आवाज 'लूब' 'डप' के उच्चारण जैसी होती है। जब हृदय संकुचित होकर रक्त निकलता है तब 'लूब' के सदृश ध्वनि होती है और फैलकर जब रक्त ग्रहण करता है तब 'डप' शब्द की ध्वनि होती है। इन दोनों ध्वनियों में समय का कुछ अन्तर अवश्य होता है, परन्तु इतना थोड़ा कि दोनों शब्द मिले हुए से ही मालूम होते हैं, और विशेषज्ञों के सिवाय साधारण लोग इस अन्तर को नहीं ख्याल कर सकते। अस्तु, अब विचारणीय बात यह है कि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिये फेफड़ों में तो जावे परन्तु श्वास के द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़ों में न पहुँचे अथवा सब कोशों में जहाँ रक्त पहुँच चुका हो, शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा ? फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं—एक ऊपरी भाग

जो प्रायः गर्दन तक है, (२) मध्यभाग जो इधर-उधर हृदय के दोनों ओर है, (३) निम्न भाग जो डायफ्राम (मांसपेशी) के ऊपर दोनों ओर है। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता, इसलिए फेफड़े के सब भागों अथवा सब भागों के समस्त कोशों में नहीं पहुँचता। जब फेफड़े के ऊपरी भागों में श्वास द्वारा वायु नहीं पहुँचता तो फेफड़े का ऊपरी भाग रोगी होना शुरू होता है और उसके इस प्रकार त्रुटिपूर्ण हो जाने से एक रोग हो जाता है, जिसको 'ट्यूबरक्यूलोसिस' (Tuberculosis) कहते हैं और जब इसी प्रकार फेफड़ों के मध्य और निम्न भाग बेकार और त्रुटिपूर्ण होने लगते हैं तो उसके परिणाम में खाँसी, दमा, निमोनिया, जीर्णज्वरादि अनेक रोग जो फेफड़ों से सम्बन्धित होते हैं, होने लगते हैं। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुँचने से जहां एक ओर फेफड़े से सम्बद्ध रोग उत्पन्न होते हैं तो दूसरी ओर उसका एक परिणाम यह भी होता है कि हृदय से जो रक्त शुद्ध होने के लिये फेफड़े में आता है वह बिना शुद्ध हुए अशुद्ध हृदय में वापिस चला जाता है। हृदय भी उसे रोक नहीं सकता। वहाँ से वह धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में पहुँचता है। इसका फल रक्त-विकार होता है। रक्त के विकृत होने से मामूली रोग खाज (खुजली, खारिश) से लेकर भयंकर रोग कुष्ठ तक हो जाता है। इसलिए इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिए आवश्यक है कि फेफड़े वायु से पूरित होते रहें और कोई कण (कोश) उसमें ऐसा न रहने पावे जहाँ वायु न पहुँच सके। यहीं से प्राणायाम की जरूरत शुरू होती है।

## प्राणायाम की आवश्यकता

प्राणायाम के द्वारा जब यह श्वास बाहर रोक दिया जाता है तब मनुष्य के भीतर श्वास लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उसका फल यह होता है कि श्वास भीतर लेते समय श्वास वेग के साथ तेज हवा व आँधी के सदृश होकर फेफड़े में पहुंचता है और जिस प्रकार आँधी व तेज हवा नगर के कोने कोने में प्रवेश करती है, इसी प्रकार वेग के साथ श्वास के द्वारा भीतर लिया हुआ वायु फेफड़े के एक-एक कोश तक पहुंच जाता है। उससे न तो फेफड़े ही में कोई विकार होने पाता है और न रक्त ही दूषित होने पाता है। अस्तु देख लिया गया कि प्राणायाम शरीर की उन्नति का हेतु ही नहीं, अपितु मुख्य हेतु है। इसलिए स्वस्थ रहने के लिए प्रत्येक नर-नारी के लिए आवश्यक है कि प्राणायाम किया करे। यह शारीरिक उन्नति का विवरण हुआ। इसी प्रकार इससे मानसिक उन्नति भी होती है। निदान दोनों प्रकार के कर्त्तव्य प्राणायाम से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

## दोनों कर्त्तव्यों पर एक दृष्टि

उपर्युक्त ६ मन्त्रों पर दृष्टिपात करने से जिनमें दोनों कर्त्तव्यों का विधान है, एक और बात भी विचार में आती है और वह यह है कि इन दोनों कर्त्तव्यों का

सफलता के साथ पालन करने से मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूटता और अमरता प्राप्त करता है। परन्तु थोड़ा भी सोचने से यह बात समझ में आ जाती है कि मृत्यु के बन्धन से छूटना और अमरता प्राप्त करना—दोनों का भाव असल में एक ही है। इसलिए मन्त्रों का स्पष्ट भाव यह है कि मृत्यु के पार होना न केवल ज्ञान का परिणाम है और न केवल कर्म का, किन्तु ज्ञान और कर्म के समुच्चय ही से बन्धन छूटता है। परन्तु मुक्ति के दो पहलू होते हैं—एक मृत्यु से पार होना जिसे शान्ति या ऋणात्मक (Negative) आनन्द कहते हैं और दूसरा आनन्द-प्राप्ति जिसे धनात्मक (Positive) आनन्द कहते हैं। इसमें से पहली बात, मृत्यु के बन्धन के पार होना तो हमारे कर्म और ज्ञान का परिणाम है, परन्तु दूसरी बात धनात्मक आनन्द न हमारे कर्म का परिणाम है, न ज्ञान का। फिर यह किस प्रकार प्राप्त होता होता है ? कठोपनिषद् इसका उत्तर देती है। उपनिषद् का वह वाक्य यह है—

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥**

कठ० १।२।२३

अर्थात् वह परमात्मा प्रवचन, बुद्धि और बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता। फिर वह प्राप्त किस प्रकार होता है ? उपनिषद् का उत्तर है कि जिसको वह स्वयं स्वीकार कर लेता है, उसी पर अपने को प्रकट कर देता है। उपनिषद् के इस वाक्य से यह तो ज्ञात हुआ कि आनन्दघन प्रभु अपनी दया ही से उपासकों को प्राप्त हुआ करता है। परन्तु वह कब किसी को मिला करता है ? इसका उत्तर यह है कि जब मनुष्य कर्म और ज्ञान को उन्नत करके अपने को उसकी कृपा का पात्र बना लेते हैं, जैसा कि ऋग्वेद में कहा है कि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋग्वेद ४।३।११) अर्थात् मनुष्य यत्न करके जब तक अपने को थका नहीं डालता, तब तक ईश्वर की दया का पात्र नहीं बनता। उसका यत्न कर्म और ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने से पूरा हुआ करता है। जब मनुष्य यह यत्न पूरा कर लिया करता है, तभी उसे वह प्राप्त हो जाया करता है। जिस प्रकार एक छोटा बालक जो अभी केवल घुटनों के बल चलता है, खड़ी हुई माता के चरणों तक पहुँच गया, परन्तु इतने से उसकी भूख निवृत्त नहीं होती। जब बालक अपना यत्न समाप्त करके आशाभरी दृष्टि से माता की ओर निहारता है, तो माता के हृदय में दया के भाव जागृत हो जाते हैं और वह उसे गोद में उठाकर दूध पिलाकर शान्त कर देती है। इस प्रकार मुमुक्षु जब अपने उन्नत कर्म और ज्ञान से मृत्यु के पार हो जाता है, तभी प्रभु दया करके उसे प्राप्त होकर आनन्दरूपी दुग्ध का पान कराके कृतकृत्य कर दिया करते हैं। अस्तु, यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि—

### ईश्वरोपासना के दो भेद हैं

(१) सगुणोपासना (२) निर्गुणोपासना।

इनमें सगुणोपासना वह है, जिसमें ईश्वर को सगुणता के साथ कि वह न्यायकारी है, दयालु है, आनन्दस्वरूप है, इत्यादि हृदय में धारणा की जाती है और दूसरी निर्गुणोपासना वह है जिसमें ईश्वर की निर्गुणता के साथ कि वह अजर है, अमर है, अनादि है, अनन्त है, इत्यादि हृदय में धारणा की जाती है। दोनों उपासनाओं के फल इस प्रकार हैं :—

## निर्गुणोपासना का फल

ईश्वर की निर्गुणोपासना का यह प्रभाव उपासक पर पड़ता है, जिससे उसमें भी निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है, तो वह भी अमर बनता है। इस प्रभाव से उपासक में कुछ आता नहीं, अपितु कुछ जाता है, परन्तु इस जाने ही से प्रसन्नता होती है, इसलिए इस प्रसन्नता को ऋणात्मक आनन्द (शान्ति) कहते हैं। एक जगह उपनिषद् में कहा गया है :—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तम्महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥

कठ० १।३।१५।।

अर्थात् ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त है। इस प्रकार उस महान् परम ध्रुव का (उसकी निर्गुणता का) निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटता है। मृत्यु के मुख से छूटना ही ऋणात्मक आनन्द है।

## सगुणोपासना का फल

परन्तु जब ईश्वर की सगुणोपासना की जाती है, तो ईश्वरीय गुणों के प्रभाव से उपासक को सगुणता की प्राप्ति से आनन्द की प्राप्ति होती है। इसका भी प्रमाण है :—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम् ॥

अर्थात् ईश्वर एक, सबको वश में रखने वाला, सर्वव्यापक, एक रूप वाली प्रकृति को अनेक प्रकार का बना देने वाला है, उसका जो धीर पुरुष आत्मस्थ होकर साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को चिरस्थायी सुख (आनन्द) प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। यही धनात्मक आनन्द है, जो सगुणोपासना से प्राप्त हुआ करता है।

**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।**
**तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।**

भाषार्थ—(सत्यस्य, मुखम्) सत्य का मुख (हिरण्मयेन पात्रेण) सुवर्ण के पात्र से (अपिहितम्) ढका हुआ है, (पूषन्) हे पूषन् ! (सत्यधर्माय, दृष्टये) उस सत्य धर्म के दिखाई देने के लिये (त्वम्) तू (तत्) उस आवरण को (अपावृणु) हटा दे ।

**व्याख्या**

मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान करते हुए उपनिषद् ने मनुष्यों को चेतावनी दी है कि इन कर्त्तव्यों का पालन करने में सचाई (वास्तविकता = Reality) होनी चाहिए । अन्यथा इनकी उपयोगिता न रहेगी । परन्तु संसार में सचाई के छिपा देने के भी साधन मौजूद हैं जिनसे वह दबा दी जाती है । उन्हीं साधनों की ओर मन्त्र में संकेत किया गया है ।

सुवर्णमय पात्र (संसार की चमक-दमक वाली चीजें) ही वे पदार्थ हैं, जो मनुष्य को प्रलोभन में लाकर उसे सत्य पथ से विमुख कर दिया करते हैं । मनुष्य क्यों चोरी करता है ? धन के लालच से । मनुष्य क्यों किसी को धोखा देता है ? क्यों किसी को ठगता है ? धन के लालच से । मनुष्य क्यों कचहरियों में झूठी गवाही देता है ? धन के लालच से । अभी पश्चिमी युद्ध के समय पश्चिमी राज्य-कर्मचारियों ने क्यों झूठ बोल-बोलकर अन्यों को धोखा देने का अपना मन्तव्य और मुख्य कर्त्तव्य बना रखा था । इसका भी कारण वही धन का प्रलोभन है ।

निदान सत्यता से विमुख होने के ये और इसी प्रकार के प्रलोभन ही कारण हुआ करते हैं । इसीलिए मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि पूषन् (पालक ईश्वर) इस प्रलोभन का आवरण सत्यता के ऊपर से उठ जाय, जिससे सत्यता हमसे और हम सत्यता से पृथक् न हों । सत्यता का इतना मान क्यों है, केवल इसलिये कि सत्यता का ही दूसरा नाम धर्म है । बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

**यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति (बृहद्० १।४।१४)**

अर्थात् निश्चय से जो धर्म है, वही सत्य है, इसीलिए सत्य कहने पर कहा जाता है कि धर्म कहता है, और धर्म को कहते हुए, कहा जाता है कि सत्य कहता है । परिणाम स्पष्ट है कि सत्य और धर्म दोनों वास्तव में एक ही वस्तु हैं । सत्य से धर्म और धर्म से सत्य भिन्न नहीं । एक दूसरी जगह ब्रह्म का नाम 'सत्यम्' कहा गया है । ब्रह्म को सत्यम् क्यों कहते हैं ? इसलिये कि 'सत्यम्' शब्द तीन शब्दों से बनता है । 'स+ति+यम्, (देखो बृहद्० ५।५ । १) 'स' जीव का वाचक है, 'ति' नाशवान्

ब्रह्माण्ड के लिये, 'यम्' जीव ब्रह्माण्ड दोनों को नियम में रखने वाला होने से, ब्रह्म का नाम है। इस प्रकार 'सत्यम्' ब्रह्म का ही नाम है। सुतराम् अनेक रीति से सत्य की महिमा उपनिषद् में बखानी गयी है। वह 'सत्य' नामक ब्रह्म कहाँ है ? उपनिषद् का उत्तर है, 'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्' (बृहद्० ५।१४।४) अर्थात् वह सत्य ही में प्रतिष्ठित है, इसलिये सत्य (ब्रह्म) को प्राप्त करने के लिये सत्य से पृथक् नहीं होना चाहिये, किंतु उसे पूर्ण रीति से प्राप्त कर लेना चाहिये। इसलिये उपनिषद् ने इस मन्त्र में चेतावनी दी है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु 'सत्य' आवरण रहित ही रहनी चाहिये, और इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उस पर सुवर्णमय पात्रों का आवरण न पड़ने दे। तभी वह अपने कर्त्तव्यों के पालन करने और उद्देश्य को प्राप्त कर लेने में सफल-मनोरथ हो सकता है। कर्त्तव्य विधान के बाद उसकी पूर्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है—

**पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।**
**तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ**
**पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥**

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्वपोषक (एकर्षे) अद्वितीय (यम) न्यायकारी (सूर्य) प्रकाश-स्वरूप (प्राजापत्य) प्रजापति (रश्मीन्) ताप (दुःखप्रद किरणों को) (व्यूह) दूर कर (तेज) और सुखप्रद तेज को (समूह) प्राप्त करा, (यत्) जो (ते) आपका (कल्याणतमम्) अत्यन्त मंगलमय (रूपम्) रूप है (तत्) आपके उस रूप को (पश्यामि) मैं देखता हूं, इसलिये (यः) जो (असौ पुरुषः) वह पुरुष (ईश्वर) है (सः) वह (अहम् अस्मि) मैं हूं।

**व्याख्या**

मन्त्र में सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर से, सच्चित् जीव को सच्चिदानन्द बना देने की याचना की गयी है और वे साधन भी, जिनसे सच्चित् जीव सच्चिदानन्द बन सकता है, बताये गये हैं। वे ये हैं :—

**पहला साधन**—ईश्वर के उन गुणों को, जिनका विवरण मन्त्र में है, जीव को अपने में धारण करना चाहिये। वे गुण ये हैं :—

१. पूषन्—मनुष्य को सबका पोषक होना चाहिये। उसका हृदय इतना लचकीला और प्रेममय हो जाना चाहिये कि किसी को भी दुःखी न देख सके।

२. एकर्षि—उसे उपासक श्रेणी में अपने गुण और कर्म की दृष्टि से, अद्वितीय होने के लिये यत्नवान होना चाहिये।

३. यम—उसे न्यायपथ का अचूक पथिक होना चाहिये। कभी अन्याय और अत्याचार का विचार भी उसके हृदय में नहीं आना चाहिये।

४. सूर्य्य—उसे अपने अन्तःकरण को अज्ञान के अन्धकार से जो तमस् और रजस् के रूप में होकर हृदय को अन्धकारमय गुफा बनाये रखते हैं, स्वच्छ रखना चाहिये और सत्य के प्रकाश से उत्तरोत्तर हृदय को प्रकाशमय बनाने का यत्न करते रहना चाहिये।

५. प्रजापति—जिस प्रकार प्रजापति, अपनी प्रजा की रक्षा किया करता है, उसी प्रकार का रक्षक बनने का उसे उद्योग करना चाहिये, जिससे उसको कभी भय-भीत न होना पड़े।

**दूसरा साधन**—मनुष्य को दुःख से रहित और सुख से भरपूर हृदय वाला बनना चाहिये। यम और नियम के अभ्यास से उसे साधन-सम्पन्नता प्राप्त होगी।

**तीसरा साधन**—जगदीश्वर के भक्त और प्रेमी का हृदय प्रेम से इतना भरपूर होना चाहिये कि प्रेम के आवेश में होते हुए उसे अपनी सुध-बुध न रहे और केवल ध्येय ही उसके लक्ष्य में रह जाये। भक्ति और प्रेम की इस उच्चतम अवस्था में वह अपने प्रेम-पात्र प्रभु का दर्शन कर सकता है।

जब उपासक इन तीन साधनों से सम्पन्न हो जाता है, तभी उसे कह सकते हैं कि मुक्त जीव या सच्चित् से सच्चिदानन्द हो गया; परन्तु इस प्रकार हुआ सच्चिदानन्द, यह जीव, सादि-सच्चिदानन्द ही होगा। असली सच्चिदानन्द तो अनादि सच्चिदानन्द ही है। मन्त्र में यही शिक्षा दी गयी है। मनुष्य के कर्त्तव्य विधान और चुनौती देने के बाद, उपनिषद् ने एक बार फिर उसे याद दिला दिया कि उसका अन्तिम उद्देश्य यही (ईश्वर दर्शन) होना चाहिये जिससे उसके कर्त्तव्य का रुख दूसरी ओर न फिर सके।

**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।**
**ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतँ स्मर ॥१७॥**

भाषार्थ—(वायुः) शरीरों में आने जाने वाला (अनिलम्) जीव (अमृतम्), अमर है परन्तु (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) केवल भस्म पर्यन्त है इसलिये अन्त समय में (क्रतो) हे जीव (ओ३म् स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) निर्बलता दूर करने के लिये स्मरण कर और (कृतम् स्मर) अपने किये हुए का स्मरण कर।

व्याख्या

यह उपनिषद् का चौथा और अन्तिम भाग है।

वेद की इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा का भाव यह है कि मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए कि जब अमर आत्मा और विनश्वर शरीर के

वियोग का समय आवे, तब वह 'ओ३म्' का उच्चारण कर सके। छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिका आई है कि एक समय देवकी-पुत्र कृष्ण के लिए उनके गुरु आंगिरस घोर ऋषि ने उपदेश दिया कि जब मनुष्य का अन्त समय हो, तब उसे इन तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिये।

| | |
|---|---|
| (१) त्वं अक्षितमसि। | (हे ईश्वर ! आप अक्षित हैं) |
| (२) त्वं अच्युतमसि। | (हे ईश्वर ! आप अविनश्वर हैं) |
| (३) त्वं प्राणसंशितमसि। | (हे ईश्वर ! आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं) |

उपनिषत्कार का कथन है कि कृष्ण इस उपदेश को सुनकर अपिपास (अन्य किसी उपदेश के लिए तृष्णा रहित) हो गये (छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।६८)। विचारणीय बात यह है कि जब घोर ऋषि ने कृष्ण महाराज को अन्त समय की एक शिक्षा दी थी, तो फिर कृष्ण ने क्यों यह समझ लिया कि अब उन्हें और किसी शिक्षा की जरूरत नहीं रही। इस प्रश्न को लक्ष्य में रखते हुए जब हम उपर्युक्त मंत्र पर दृष्टि डालते हैं तो प्रतीत होता है कि मन्त्र के दूसरे भाग में दो बातों के स्मरण करने का विधान है, एक 'ओ३म्' और दूसरे 'अपने किये हुए कर्मों का।' वेद के समस्त मन्त्र और ऋचाएं दो भागों में विभक्त हैं—एक भाग उपदेश रूप में है, जिसमें मनुष्यों को उपदेश रूप में अनेक शिक्षाएं दी गई हैं, जिनके आचरण में लाने से वे अपने को उच्च कोटि का मनुष्य बना सकते हैं। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र भी बनाया है। इसलिए जो शिक्षायें उपदेशरूप से दी गई हैं, मनुष्य का अधिकार है कि उन्हें ग्रहण करे या न करे, क्योंकि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मन्त्रों के दूसरे भाग में जो कुछ है, वह नियम रूप में वर्णित हुआ है। जो शिक्षा नियमरूप में है, उन्हें किसी की शक्ति नहीं कि उल्लंघन कर सके। ये ही नियम हैं, जिन्हें प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) कहते हैं जो अटल हैं। मन्त्र में जो उपदेश हैं, उनमें से एक यह है कि "ओ३म् क्रतो स्मर" (हे जीव! ओ३म् का स्मरण कर।) यह उपदेश रूप में है, परन्तु दूसरा उपदेश "कृतं स्मर" (हे जीव ! अपने किए हुए का स्मरण कर) नियम रूप है, और अटल है। इस शिक्षा को लक्ष्य में रखते हुए जब हम मनुष्य जीवन पर दृष्टि डालते हैं, तब वह भी हमें दो भागों ही में विभक्त दिखलाई देता है। मनुष्य-जीवन का पहला भाग उस समय तक रहता है, जब तक वह मृत्यु-शय्या पर नहीं आता। दूसरा भाग वह है, जिसमें मनुष्य मृत्यु-शय्या पर आकर अन्तिम श्वास लेने की तैयारी करता और लेता है। मनुष्य जीवन का पहला भाग वह है, जिसमें मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता होती है। उसमें मनुष्य उल्टा-सीधा जिस प्रकार का भी चाहे कर्म कर सकता है, परन्तु जीवन के दूसरे भाग में वह स्वतन्त्रता बाकी नहीं रहती। मनुष्य पहले भाग में जिस प्रकार की भी परिस्थितियों

और प्रभाव में रहता है, दूसरे भाग में जो चित्र रूप होता है, उन्हीं परिस्थितियों और प्रभावों का चित्र खींचा हुआ दिखाई देता है। यदि एक व्यक्ति ने वित्तैषणा—धन के प्राप्त करने की इच्छा और उद्योग ही—में अपना जीवन व्यतीत किया है, तो जीवन के अन्तिम भाग में इसी का चित्र खिंचेगा, अर्थात् वह धन ही का स्मरण करता हुआ इस दुनिया से कूच करेगा। गजनी के प्रसिद्ध लुटेरे राजा महमूद का जीवन इस विषय में उदाहरण रूप है। यदि उसने अपना सारा जीवन धन के लिए लूट-मार करने में लगाया था तो अन्त में उसी धन के लिए रोता हुआ वह संसार से गया। यही अवस्था उनकी होती है, जिन्होंने पुत्रैषणा अथवा लोकैषणा में अपना जीवन व्यतीत किया है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य, जीवन के पहले भाग को, जिस प्रकार के भी कार्य में लगाता है, अन्त में जीवन के दूसरे भाग में उसे उसी का स्मरण करते हुए इस दुनिया से जाना पड़ता है।

इतनी व्याख्या के बाद अब उस प्रश्न का सुगमता से समाधान हो जाता है, कि क्यों कृष्ण आचार्य घोर के उपदेश को सुनकर अपिपास हुए। कृष्ण ने समझ लिया कि अन्त में "त्वम् अक्षितमसि" इत्यादि वाक्य तब मुँह से निकाल सकते हैं, जब जीवन के पहले भाग में इनका स्मरण और जप किया हो। इस प्रकार घोर ऋषि का उपदेश केवल अन्त समय का ही एक कर्त्तव्य नहीं था, किन्तु सारे जीवन का यह कार्यक्रम था। जब सारे जीवन का कार्यक्रम आचार्य ने बतला दिया तब फिर कृष्ण को क्या जरूरत बाकी रही थी कि वे और भी किसी शिक्षा की आकांक्षा करते। उपनिषद् ने जो शिक्षा मनुष्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में ऊपर दी है, यदि मनुष्य उसका ठीक रीति से पालन करे, तो अवश्य उसकी वही अवस्था होगी कि अन्त में वह ओ३म् का स्मरण करते हुए संसार से रुखसत होगा। यह मंत्र एक प्रकार की परीक्षा का विधान है। उपनिषद् की शिक्षा जिस कार्यक्रम से जीवन व्यतीत करने का विधान करती है, यदि मनुष्य उसी के अनुसार चलेगा तो अवश्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण होगा, अर्थात् जीवन के दूसरे भाग में, ओ३म् का स्मरण करते हुए अन्तिम श्वास खींचेगा। यदि उस शिक्षा पर न चलेगा तो कदापि ओ३म् का स्मरण न कर सकेगा। यही परीक्षा की अनुत्तीर्णता होगी। इसलिए प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार से यत्नवान् हो कि जब परीक्षा का समय आये तो उत्तीर्णता प्राप्त करे।

**अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्**
**विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**
**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो**
**भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥**

भावार्थ—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (देव) तेजस्वी ईश्वर (राये) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे मार्ग से हमको (नय) चलाइये। आप (अस्मान्) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) कर्मों को (विद्वान्) जानने वाले हैं। (अस्मत्) हमको (जुहुराणम्) उलटे मार्ग पर चलने रूप (एनः) पाप से (युयोधि) बचाइये। इसलिये (ते) आपको हम (भूयिष्ठाम्) बार-बार (नमः उक्तिम्) नमस्कार (विधेम) करते हैं।

व्याख्या

यह मन्त्र उपनिषद् का अन्तिम मन्त्र है। आर्य शैली के अनुसार सारा यत्न करने के बाद अन्त में मनुष्य को ईश्वर की दया ही का आश्रय लेना चाहिए। उसी के अनुसार इस प्रार्थना विधायक मन्त्र के साथ उपनिषद् समाप्त होती है। मन्त्र में पाप का कैसा सुन्दर लक्षण कर दिया है। पाप क्या है ? उलटे मार्ग पर चलना। इस उलटे, पाप के मार्ग पर न चलकर सीधे और पुण्य पथ का पथिक बनने के लिए ईश्वर की ही पथ-निदर्शनकर्ता के रूप में आवश्यकता है। वही आदि गुरु है। वही महान् शिक्षक है। उसी का आश्रय लेने से बेड़ा पार हो सकता है। इसलिए सब कुछ यत्न करके भी अन्त में उसी का आश्रय लेना चाहिए।

॥ इत्योम् ॥

ओ३म्

सामवेदीय तलवकार

# केन उपनिषद्

## प्रथमः खण्डः

**केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन ऽ१णः प्रथमः प्रैति युक्तः ।**
**केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।१।।**

अर्थ—किस की प्रेरणा से मन इच्छित विषय पर गिरता है । किससे नियुक्त हुआ (प्रथमः) फैला हुआ प्राण चलता है । (केन इषिताम्) किससे प्रेरित हुई (इमां वाचम् वदन्ति) यह वाणी बोलती हैं । (कः उ देवः चक्षुः श्रोत्रं युनक्ति) कौन देव आँखों और कानों को चलाता है ?

**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।**
**चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।। २ ।।**

अर्थ—वह कान का कान और मन का मन है । जो निश्चय से वाणी का वाणी है वही प्राण का प्राण और आंख की आंख है । (अति मुच्य) (इन इन्द्रियों से) छूटकर धीर पुरुष इस लोक से (प्रेत्य) पृथक् होकर अमर होते हैं ।।

### व्याख्या

मैं कौन हूँ ? कहां से आया हूँ ? जगत् क्या है ? किसने रचा है ? ये प्रश्न हैं, जो स्वाभाविक, शांति के साथ बैठे हुए मनुष्यों के हृदयों में उत्पन्न हुआ करते हैं । इन्हीं प्रश्नों के समाधान की इच्छा ने फिलौसफी (दर्शन शास्त्र) को जन्म दिया । इसलिए नियम बनाया गया है कि फिलौसफी का अधिकतर विस्तार उन्हीं देशों में हुआ करता है जहां शान्ति का साम्राज्य स्थापित हुआ करता है । भारतवर्ष में क्यों इतना अधिक फैलाव दर्शन शास्त्र का हुआ, जिसका उदाहरण पृथ्वी के किसी अन्य भाग में नहीं पाया जाता ? उसका कारण यही है कि भारतवर्ष राम (शान्तिमय) राज्य के लिये प्रसिद्ध है । योरुप में फिलौसफी का थोड़ा बहुत फैलाव जो हुआ उसका होना उसी समय सम्भव हुआ जब योरुप से पोपडम की चढ़ी हुई कमान उतरी और योरुप निवासियों को विचारों के प्रकट करने की स्वतन्त्रता मिली । दर्शन के मूल प्रश्न मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा के उत्कृष्ट रूप हुआ करते हैं, अतः इन्हीं

नैसर्गिक इच्छा की तह से उठे हुए प्रश्नों के साथ इस उपनिषद् का प्रारम्भ होता है। एक जिज्ञासु के शांत हृदय में प्रश्न उठता है कि मन किस प्रकार संकल्प-विकल्प करता है। कहाँ से उसमें इतना वेग आ जाता है कि जिससे यह कल्पनातीत काल में असंख्य मील दूर पहुँच जाया करता है ? किस प्रकार प्राण अपना विलक्षण काम करके प्राणियों के जीवन का आधार बना हुआ है ? चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों में जड़ प्रकृति का कार्य होते हुए भी किस प्रकार देखने-सुनने आदि की विचित्र क्रियायें हुआ करती हैं ? उपनिषद् के ऋषि ने जिज्ञासा का उत्तर दिया कि एक शक्ति है और हाँ, वह एक विलक्षण शक्ति है, जो मन, श्रोत्र आदि इन्द्रियों में अपना-अपना व्यापार करने की योग्यता प्रदान करती है और उसी की प्रदान की हुई योग्यता से मन आदि, मिट्टी के ढेले के सदृश होते हुए भी, वह-वह विलक्षण काम करते हैं कि जिनकी कार्य प्रणाली समझने में विज्ञान के टिमटिमाते हुए दीपक धुंधले पड़ रहे हैं और तर्क के तीव्र आलोचक शास्त्र भी कुंठित हो रहे हैं[1]। उत्तर के अन्तिम भाग में यह भी संकेत कर दिया गया है कि यदि तुम उस शक्ति का सामीप्य प्राप्त करके अमरता का जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें इन्द्रियों के कार्यों (विषयों) में लिप्त नहीं होना चाहिये। उनसे काम लो, उनको अपना-अपना व्यापार करने की स्वतन्त्रता दो, परन्तु तुम उनके कार्यों से निरपेक्ष रहो, उनमें फंसो नहीं, उन पर अधिकार रक्खो।

**न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥३॥**

अर्थ—न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है और न मन (इसलिये उसको) न जानते हैं, न जान सकते हैं, जिससे उसका उपदेश किया जा सके। वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक् है और अज्ञात से भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं जो हमको उसका उपदेश करते आए हैं।

**व्याख्या**

क्यों मनुष्यों को इन्द्रियों (के कार्यों) से निरपेक्ष रहना चाहिए ? इसका कारण उपनिषद् के इस वाक्य में दिया गया है और वह कारण यह है कि उस विलक्षण शक्ति तक इन इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। इसलिये इनके माध्यम से कोई

---

१. जोजेफ मेकब ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि सम्प्रति मस्तिष्क एक ऐसी तमःपूर्ण गुफा है कि उसमें व्यवच्छेदकों और शरीर-विद्या के पण्डितों के दीपक मस्तिष्क की गुप्त समस्याओं को सुलझाने की जगह और उलझन बढ़ा रहे हैं—(Evolution of mind by J. Mecobe P 15 and 16)

उस शक्ति तक नहीं पहुँच सकता। क्यों इन्द्रियों की वहाँ पहुँच नहीं है ? इसका कारण मालूम होना चाहिये। उपनिषद् वाक्य में दो बातें कही गई हैं, पहली बात तो यही (इन्द्रियों की पहुँच न होने से सम्बद्ध) है, दूसरी बात यह है कि उस (अपूर्व) शक्ति को न जानते हैं, न जान सकते हैं क्योंकि वह विदित और अविदित दोनों से पृथक् है। यदि दूसरी बात ठीक है तो इन्द्रियों पर क्या निर्भर है, वह प्रत्येक ही की पहुँच के बाहर है क्योंकि अज्ञेय है। इसलिये पहले इसी दूसरी बात पर विचार करना चाहिये कि क्या वह (विलक्षण) शक्ति अज्ञेय है ?

कतिपय विचारकों ने, जिनमें पूर्व और पश्चिम दोनों के विद्वान सम्मिलित हैं, उपनिषद् को अज्ञेयवाद प्रतिपादिका समझा है। पश्चिम के विद्वानों में हर्बर्ट स्पेन्सर और जर्मनी के विद्वान् रेमौंड (Duti Bois Raymond) मुख्य रीति से इस वाद (अज्ञेयवाद) (Agnosticism) के पोषक थे। स्पेन्सर ने धर्म के अन्तिम ध्येय ब्रह्म के साथ विज्ञान के अन्तिम ध्येय दिशा (Space), काल (Time) प्रकृति (Matter), गति (Motion) शक्ति (Force) और मस्तिष्क (Mind) को भी अज्ञेय ठहराया था, परन्तु उसका यह वाद सीमित था। उसने कहा कि ब्रह्म अथवा विज्ञान के मूल वस्तु अज्ञेय हैं, हम उन्हें नहीं जानते। परन्तु जर्मनी के विचारक ने इस पर संतोष नहीं किया। उसने एक पग और आगे बढ़ाया। स्पेन्सर ने जहाँ कहा था कि "हम उसे नहीं जानते (Ignoramous —We do not know)" वहाँ रेमौण्ड ने कहा कि, 'हम उसे जानेंगे भी नहीं। Ignorabemous=We shall never know)" इन पश्चिम के विद्वानों और इनका अनुकरण करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी एक ओर इस प्रकार उस शक्ति को अज्ञेय कहा, दूसरी ओर कुछेक ऐसे ही विद्वानों ने अज्ञेयवाद सम्बन्धी अपने कथन का आधार उपनिषद् के इसी वाक्य को ठहराया। परन्तु ऐसा कहने में वे भ्रम में थे और हैं। उन्होंने उपनिषद् के इस वाक्य का ठीक भाव नहीं समझा। उपनिषद् के इस वाक्य में जहाँ 'न विद्मो न विजानीमः' अर्थात् न उसे जानते और न विशेष यत्न करने से जान सकते हैं, "विदितादथो अविदितादधि" अर्थात् वह ज्ञात और अज्ञात दोनों की हद से बाहर है, दो शब्दों परिणाम रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ इससे पहले उसका कारण दे दिया गया है और वह कारण यह है कि ईश्वर तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है, इसलिए अनिवार्य परिणाम यही निकल सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा न उसको जानते और न जान सकते हैं। और यह भी कि इन्द्रियों के द्वारा ही जो ज्ञात और अज्ञात है, उससे भी वह बाहर है, कल्पना करो कि इन्द्रियों द्वारा १०० बातें जानी जा सकती हैं और एक व्यक्ति ने अपनी इस समय तक की आयु में उनमें से ५० बातों को जान लिया है। परन्तु बाकी ५० को अभी तक नहीं जान सका है। परन्तु उन्हें यत्न करने से जान सकता है। तो उसके लिए पहली ५० बातें ज्ञात (विदित) और दूसरी ५०

बातें अज्ञात (अविदित) हैं। उपनिषद् की शिक्षा यह है कि वह (विलक्षण) शक्ति इस ज्ञात और अज्ञात दोनों से बाहर है। उपनिषद् के इस वाक्य का अब भाव स्पष्ट हो गया कि चूंकि उस शक्ति तक इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं, इसलिए कोई भी इन्द्रियों के द्वारा उस शक्ति को नहीं जान सकता[१]। वह किस प्रकार जाना जा सकता है, इसका वर्णन स्वयं उपनिषत्कार ने इसी उपनिषद् में आगे कर दिया है, जिसे आगे के पृष्ठ प्रकट करेंगे।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

---

१. एक दूसरा स्थल भी उपनिषदों में है जिसका ठीक भाव न समझकर उससे भी ईश्वर के अज्ञेय होने का स्वप्न अनेक विद्वान् देखा करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक जगह वर्णित है कि ब्रह्म (प्रकृति अर्थात पंचभूतों के समुदाय) के दो रूप हैं—एक मूर्त (स्थूल दृश्य) दूसरा अमूर्त (सूक्ष्म दृश्य)। इनमें से अग्नि जल और पृथ्वी मूर्त हैं। शेष आकाश और वायु अमूर्त हैं। इसी शिक्षा को उपर्युक्त कथन के बाद अध्यात्म रूप में वर्णन करते हुए प्रकट किया गया है कि शरीर में जितना अंश अग्नि, जल और पृथ्वी का है वह मूर्त (स्थूल दृश्य) है और इसके अतिरिक्त प्राण (रूप में वायु) और शरीर के भीतर का आकाश जो पंचभूतों के अवशिष्ट अंग हैं अमूर्त (सूक्ष्म और अदृश्य) हैं। यहाँ तक वर्णन के बाद उपनिषद् में ब्रह्म के लिए आदेश "नेति नेति" कथन किया गया है। अर्थात् ब्रह्म इन पचभूतों के अवयव रूप मूर्त और अमूर्त में से (नेति नेति=न इति न इति) न ऐसा (मूर्त) है और न ऐसा (अमूर्त) है। [बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय २, ब्राह्मण ३]

उपनिषद् का वाक्य स्पष्ट है। उसमें साफ तौर से सब वर्णन कर दिया गया है कि ब्रह्म अप्राकृतिक है। वह न प्रकृति का उपादान कारण है, न प्रकृति उसका उपादान कारण (Material cause) है, और न वह स्वयं प्रकृति का स्थूल (मूर्त) या सूक्ष्म (अमूर्त) रूप ही है। अर्थात उसकी सत्ता प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र है। परन्तु कई विद्वान् संक्षिप्त से इस सारे ब्राह्मण को प्रारम्भ से अन्त तक न पढ़कर प्रारम्भ की ५ कण्डिकाओं को छोड़कर केवल कण्डिका ६ में वर्णित आदर्श "नेति नेति" को लेकर ब्रह्म के अज्ञेय होने का व्यर्थ ढिंढोरा पीटते हैं।

**यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।।७।।**

**यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते ।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।।८।।**

**इति प्रथमः खण्डः ।।१।।**

अर्थ—जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिससे वाणी का प्रकाश होता है उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका वाणी से सेवन किया जाता है, वह (ब्रह्म) नहीं है ।।४।।

जिसका मन से मनन नहीं किया जाता, जिससे मन मनन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका मन से मनन किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ।।५।।

जो आँख से नहीं देखा जाता, जिससे आँख देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका आँख से सेवन किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ।।६।।

जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका सेवन कान से किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ।।७।।

जो प्राण[1] से प्राण के व्यापार में नहीं आता, जिससे प्राण अपना व्यापार करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो प्राण के व्यापार में आता है वह (ब्रह्म) नहीं है ।।८।।

---

१. प्राण को तीन प्रकार से समझना चाहिए ।

[क] प्राण एक वायु है, जिसके दस भेद हैं और इन्हीं से समस्त शरीर का व्यापार चला करता है । प्राण के १० भेद ये हैं—

१. प्राण—श्वास का बाहर निकालना ।
२. अपान—श्वास का भीतर ले जाना ।
३. समान—नाभिस्थ, शरीर में रस पहुँचाना ।
४. उदान—कण्ठस्थ, अन्न-पान को भीतर पहुँचाना ।
५. व्यान—समस्त शरीर में रक्त का संचार करना ।
६. नाग—कै तथा मल का निकालना ।
७. कूर्म—निमेष-उन्मेष का कारण ।
८. कृकल—भोजन-पान की इच्छा से सम्बन्धित ।

व्याख्या

यह विलक्षण शक्ति (ब्रह्म) इन्द्रियों की पहुँच से परे है। न केवल यह कि इन्द्रियाँ वहाँ नहीं पहुँच सकतीं बल्कि यह भी कि इन्द्रियों द्वारा उसके स्वरूप का प्रकाश भी नहीं हो सकता। उस शक्ति तक इन्द्रियों की पहुँच न होने का मतलब यह है कि उसकी प्राप्ति का साधन इन्द्रियाँ नहीं हैं और उसके स्वरूप का प्रकाश न कर सकने का तात्पर्य यह है कि उसके स्वरूप, उसके गुण कर्म का याथातथ्यतः (ठीक-ठीक) प्रकटीकरण, इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। इसी अन्तिम बात का वर्णन उपर्युक्त इन ५ उपनिषद् वाक्यों में किया गया है। पहले वाक्य में वाणी की असमर्थता प्रकट की गई है। अन्यों में मन, चक्षु श्रोत्र और प्राण के लिए कहा गया है कि वह शक्ति इनके व्यापार में भी नहीं आ सकती, अर्थात् हम उसको न देख-सुन सकते हैं, न उसको वर्णन कर सकते हैं, न उसे मन में ला सकते हैं न इन्द्रियों में श्रेष्ठ प्राण के द्वारा उसका प्रकाश कर सकते हैं। आखिर उसका ज्ञान किस प्रकार हो? इसका सूक्ष्म विवरण तो आगे मिलेगा, परन्तु स्थूल रीति से उसके समझ लेने को कुछ संकेत यहाँ कर दिया गया है, और वह संकेत यह है कि तुम उस

---

९. देवदत्त—जम्हाई आदि का कारण।

१०. धनञ्जय—मूर्छा-बेसुध होना, खुर्राटा लेना।

अन्तिम ५ प्राणों के सम्बन्ध में यहाँ एक सन्दर्भ उद्धृत किया जाता है:—

नाग-कूर्म-कृकल देवदत्त धनञ्जयरूपाः पञ्च वायवः। एतेषां कर्माणि च यथाक्रमं उद्गारोन्मीलन-क्षुधाजनन-विजृम्भण-मोहरूपाणि॥ (संगतिदर्पण अध्याय १, श्लोक ४३, राजा सुरेन्द्र मोहन द्वारा सम्पादित संस्करण।)

[ख] दर्शनों में प्राण इन्द्रिय समुदाय का नाम है, परन्तु उपनिषदादि वेदान्त ग्रन्थों में प्राण एक पृथक् [अन्तः] करण है, जिसको समस्त इन्द्रियों से तरजीह दी गई है।

[ग] सूक्ष्म प्राण एक शक्ति है, जिसके लिए अंग्रेजी भाषा के लेखकों ने Human Electricity, magnoticism vital force. vital Energy आदि अनेक शब्द प्रयोग किये हैं। इसी शक्ति से समस्त शरीर के भीतरी और बाहरी व्यापार हुआ करते हैं।

उपनिषद् में इस जगह प्राण शब्द इन्द्रिय-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

विलक्षण शक्ति के लिए समझो कि वह शक्ति वह है जिसने समस्त इन्द्रियों में अपना व्यापार करने की योग्यता प्रदान की है। उस विलक्षण शक्ति की विलक्षणता यही है कि उसने प्रकृति को अव्यक्त (Latent) होते हुए भी जगत् रूप में परिणत करके व्यक्त (Patent) कर दिया है, परन्तु स्वयं अव्यक्त रही। एक कवि ने क्या अच्छा कहा है—

राजे हस्ती[१] को मेरे मुझ पर हवेदा[२] कर दिया।
गुञ्चये[३] दिल को नसीमे इश्क[४] ने वा[५] कर दिया॥
भेज कर मयखानए[६] दुनिया में साकी ने मुझे।
खुद रहा परदे में मेरा राज अफशां[७] कर दिया॥

—:o:—

१. जीवन का भेद २. प्रकट ३. कली ४. प्रेम-समीर ५. खोल देना ६. जगत् को कवि ने शराबखाना ठहराया है ७. भेद खोल देना।

# द्वितीय खण्ड

**यदि मन्यसे सुवेदेति, दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।**
**यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥**

अर्थ—यदि तू मानता है (गुरु शिष्य से कहता है) कि (ब्रह्म को) अच्छी तरह जानता है तो निश्चित तू ब्रह्म के रूप को बहुत थोड़ा जानता है। जो उसका रूप तुझमें है और जो उसका रूप देवों में होना ज्ञात है, उसको तेरे लिए मैं खोज करने योग्य ही मानता हूँ।

**नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।**
**यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२॥**

अर्थ—(गुरु कहता है) मैं नहीं मानता कि (वह ब्रह्म) अच्छी तरह से जानने योग्य है, (नो) न यह मानता हूँ कि बिलकुल जानने योग्य ही नहीं है, (क्योंकि उसको) जानते भी हैं। (नः) हममें से (यः) जो कोई (तद्, वेद) उसको जानता है वह (तत्, वेद) उसको जानता है। (नो) न कि (न, वेद इति) उसे नहीं जानता (वेद, च) और जानता भी है।

**यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ।**
**अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥३॥**

अर्थ—जिसका (ब्रह्म के सम्बन्ध में )अमत है अर्थात् वह यह अभिमान नहीं रखता कि, ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है (तस्य मतम्) वही कुछ जानता है, परन्तु जिसका मत है अर्थात् जो अभिमान रखता है कि वह उसे जानता है ( न वेद सः ) वह कुछ नहीं जानता। ज्ञानाभिमानियों के लिये वह अज्ञात और अज्ञान स्वीकार करने वालों के लिये कुछ ज्ञात है।

**व्याख्या**

ब्रह्म के जानने न जानने के सम्बन्ध में मन्तव्य क्या होना चाहिये, उसकी इन मन्त्रों में बड़ी महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी गई है। गुरु ने शिष्य को सावधान किया है कि, मनुष्यों में यह विचार कभी नहीं रहना चाहिए कि वे ब्रह्म को पूर्णतया जानते हैं। यह चेतावनी देने के बाद गुरु ने अपना (उपनिषद् का) मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है कि वह न तो यह मानता है कि वह ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है और न यह

है कि उसे कुछ भी नहीं जानता। इसलिए उपनिषद् के शब्दों में मन्तव्य यह हुआ कि "न वेदेति वेद च" अर्थात् उसे "नहीं भी जानते और जानते भी हैं।" इसका भाव यह है कि ब्रह्म को कुछ तो जानते और कुछ नहीं जानते—ब्रह्म को जितना भी जानते हैं उससे मनुष्य को आस्तिक (ईश्वर विश्वासी) बना रहना चाहिए और जो कुछ नहीं जानते उसके जानने के लिए उस (ब्रह्म) का जिज्ञासु रहना चाहिए। इसी भाव को प्रकट करने के लिए पहले वाक्य में ब्रह्म के सम्बन्ध में "मीमांस्यमेव" (खोज करने योग्य ही) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। क्यों ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की शिक्षा दी हुई है? इसका कारण यह है कि इस प्रकार की शिक्षा देकर ऋषियों ने जन-समाज को नास्तिकता या अज्ञेयवाद के गढ़े में गिरने से बचा लिया। इसका विवरण इस प्रकार है कि मनुष्य यदि ईश्वर के सम्बन्ध में यह विचार रखे कि उसे अच्छी तरह जानता है, तो इसका फल यह है कि, उसमें ईश्वर के लिए उपेक्षा बुद्धि पैदा होगी। कारण स्पष्ट है और वह यह कि जिस चीज को आदमी अच्छी तरह जान लिया करता है, फिर उसकी ओर ध्यान नहीं दिया करता। एक विद्यार्थी जिसने एम. ए. या आचार्य परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त कर ली है, वह अब अंग्रेजी या संस्कृत की प्रारम्भिक पुस्तकों की ओर ध्यान भी नहीं देता क्योंकि उनके लिये उसका विश्वास है कि वे भली-भाँति जानी हुई पुस्तकें हैं। यदि इस प्रकार मनुष्यों में ब्रह्म के लिये उपेक्षाबुद्धि पैदा हो जावे, तो फल यह होगा कि वे (मनुष्य) न ब्रह्म की ओर ध्यान देंगे, न उसके गुणों का जप करेंगे और ऐसा करने से ईश्वरोपासना से जो मनुष्यों का गुणवृद्धि द्वारा कल्याण हुआ करता है, उससे वंचित रहेंगे। अब मन्तव्य के दूसरे पहलू पर विचार कीजिए। यदि मनुष्य अज्ञेयवादियों के सदृश यह समझने और मानने लगे कि ब्रह्म को जान ही नहीं सकते तो फिर उसमें निराशा के भाव उत्पन्न होंगे और वह समझने लगेगा कि जिस वस्तु को हम प्राप्त नहीं कर सकते अथवा जिस वस्तु का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं, उसके लिए यत्न करना निरर्थक और समय को व्यर्थ नष्ट करना है। इसका भी फल वही होगा कि मनुष्य निराशा से न ईश्वर का स्मरण करेंगे और न उसकी उपासना, और इस प्रकार उसके फलस्वरूप गुणोत्कर्ष से वंचित रहेंगे और अपने ही हाथों अपना भविष्य बिगाड़ेंगे। अस्तु, देख लिया गया कि उपनिषद् ने ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में इस मन्तव्य की शिक्षा देकर कि उसे कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते जो जानते हैं उससे आस्तिक बने रहें और जो नहीं जानते, उससे उसकी खोज करें, मनुष्य जाति का बड़ा उपकार किया है और उसे दोनों ओर के गड्ढों में गिरने से बचा लिया है। उपनिषद् के तीसरे वाक्य में उपर्युक्त सिद्धांत ही का दूसरे प्रकार से वर्णन हुआ है। उस (वाक्य) में कहा गया है कि जिसका अमत है अर्थात् जो ईश्वर के सम्बन्ध में, परिमित सम्मति कि वह ऐसा है, ऐसा है, नहीं रखता वह ईश्वर को कुछ जानता है परन्तु जो कोई परिमित सम्मति कि वह ईश्वर को पूर्ण रीति से जानता है, रखता है, उपनिषद् का

कहना है कि वह उसे नहीं जानता। इससे स्पष्ट है कि यह दावा करने वाले कि वे उसे अच्छी तरह जानते हैं, वास्तव में उसे नहीं जानते परन्तु जो पुरुष अपनी अल्पज्ञता प्रदर्शित करते हुए उसके न जानने का, खुले तौर से, इकबाल करते है, वे ही उसे कुछ जानते हैं।

'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की प्रसिद्ध कहावत के अनुसार ईश्वर की खोज करने वाले उस (ब्रह्म) का कुछ न कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त करते ही रहते हैं और यही ज्ञान-वृद्धि अन्त में उनके कल्याण का कारण हुआ करती है। एक कवि ने क्या अच्छा लिखा है:—

हँस के दुनिया में मरा कोई, कोई रो के मरा।
जिन्दगी पाई मगर उसने, जो कुछ हो के मरा।।
जी उठा मरने से वह, जिसकी प्रभु पर एक नजर।
जिसने दुनिया ही को पाया था, वह सब खो के मरा।

**प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।**
**आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।।४।।**

अर्थ—प्रतिबोध द्वारा (विदितं) प्राप्त हुए (मतम्) ज्ञान से, निश्चित है कि अमरत्व प्राप्त होता है। (आत्मना) पुरुषार्थ=कर्म से बल और ज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है।

**व्याख्या**

मनुष्य के अधिकार में ज्ञानोपलब्धि के दो साधन इन्द्रिय और आत्मा हैं। इन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे बोध और आत्मा के द्वारा जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है, उसे प्रतिबोध कहते हैं। इन्द्रिय शब्द के अन्तर्गत अन्तःकरण[1] और बाह्यकरण दोनों शामिल हैं। बाह्यकरण दस इन्द्रियाँ हैं, और अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का नाम है। आत्मा की दो वृत्ति हैं—(१) बहिर्मुखी वृत्ति, (२) अन्तर्मुखी वृत्ति।

---

१. अन्तःकरण और उसकी कार्य-प्रणाली अच्छी तरह समझ ली जावे, इसके लिए उसका यहाँ कुछ विवरण दिया जाता है:—

(क) मन का काम ५ ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करना बाकी पाँच कर्मेन्द्रियों से कर्म कराना है, इसलिए मन को इन्द्रियों का राजा कहा जाता है। मन का स्थान हृदयाकाश है, परन्तु सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों की जगह, जिनसे मन का काम लिया जाता है मस्तिष्क है। जर्मनी के एक वैज्ञानिक 'फ्लेशजक' (Paul Flechsig of Leipzig) की खोज के अनुसार मस्तिष्क के भूरे मज्जा क्षेत्र, इन्द्रियानुभव के ४ अधिष्ठान या भीतरी (सूक्ष्म) गोलक हैं जो इन्द्रियसंवेदना को ग्रहण करते हैं:—(१) स्पर्श ज्ञान

आत्मा जब बाह्य जगत् में काम करना चाहता है, तब उसकी बहिर्मुखी वृत्ति काम करती है, और जब अपने भीतर ही काम करता है, तब अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति से काम लेता है। बहिर्मुखी वृत्ति का काम बुद्धि, मन और इन्द्रियों के माध्यम से पूरा हुआ करता है, परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति के लिए किसी माध्यम की जरूरत नहीं है। बहिर्मुखी वृत्ति के द्वारा उपलब्ध ज्ञान का नाम ही बोध है, परन्तु जो ज्ञान अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा प्राप्त हुआ करता है, उसे बोध नहीं कह सकते; उसका

---

का गोलक मस्तिष्क के खड़ें लोथड़े में, (२) घ्राण का सामने के लोथड़े में, (३) दृष्टि (आँख) का पिछले लोथड़े में, और (४) श्रवण का कनपटी के लोथड़े में है। (देखो 'आत्म-दर्शन' पृष्ठ २५७ पहला संस्करण)। इन्द्रियों से काम लेने के सिवाय मन का दूसरा काम अपने भीतर संकल्प और विकल्प करना है। जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं से इसका सम्बद्ध है। सुषुप्ति गाढ़ निद्रा में मन बेकार सा रहा करता है।

(ख) बुद्धि की दो तहें अथवा दो भाग हैं, (१) तार्किक बुद्धि (२) मेधावी बुद्धि। तार्किक बुद्धि का काम तर्क है, अर्थात् तर्क से सत्यासत्य का विवेक करना। मेधावी बुद्धि का काम यह है कि तर्क द्वारा निश्चित सत्य पर श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न कर देना। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है।

(ग) चित्त के दो भाग हैं (१) एक भाग का काम उद्वेग (Emotion) पैदा करना है। (२) दूसरा भाग स्मृति, वासना और संस्कार का स्थान है। 'स्मृति'—शिक्षा, उपदेश और अध्ययनादि के द्वारा मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त किया करता है, वह ज्ञान चित्त के भण्डार में जमा हो जाया करता है, उसी ज्ञान को स्मृति और उस एकत्रित ज्ञान ही का नाम स्मृति भण्डार हुआ करता है।

'वासना'—कर्म करने से अभ्यास का एकांश बना करता है। उसी अंश का नाम वासना हुआ करता है। इस वासना का काम यह है कि, उसी कर्म को जिसकी वह वासना है, फिर करने की, भीतर से प्रेरणा किया करती है।

'संस्कार'—मनुष्य के चित्त पर उन समस्त घटनाओं के जो उसके या अन्यों के द्वारा घटित हुआ करती है, प्रभाव पड़ा करते हैं, इसी को चित्त पर छाप लगाना भी कहते हैं। इसी प्रभाव या छाप (Impressions) को संस्कार कहा करते हैं।

मनुष्य के कर्तृत्व पर इन तीनों का प्रभाव पड़ा करता है। अहंकार—अहंकार का काम समष्टित्व (कुल) में से व्यष्टित्व (जुज़) का निर्माण करना है। मेरा धन, मेरी सम्पत्ति, मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा शरीर आदि भावनाओं का प्रादुर्भाव अहंकार की सत्ता से हुआ करता है। व्यक्तित्व (Individuality) अहंकार के बिना नहीं बन सकती, और व्यक्तित्व के निर्माण के बिना जगत् न बन सकता और न स्थिर ही रह सकता है।

नाम प्रतिबोध है। उसके प्रतिबोध कहे जाने का कारण यह है कि, वह बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रकार की दृष्टि से विभिन्नता रखता है। आत्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान के सिवाय प्रयत्न भी है, इसलिए आत्मा सतत प्रयत्नशील रहता है। सतत प्रयत्नशीलता का मतलब यह है कि आत्मा की दोनों वृत्तियों में से एक न एक सदैव काम करती रहती है। जब एक वृत्ति रुकती या रोकी जाती है, तो उसका फल यह होता है कि, दूसरी वृत्ति, बिना किसी प्रयत्न के स्वयमेव यान्त्रिक रूप से, काम करने लगती है। जब मनुष्य प्रयत्नशील होकर 'ध्यान' (योग का सातवाँ अंग) के अभ्यासों द्वारा मन निर्विषय कर दिया करता है, तब बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाया करती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति का कार्यक्षेत्र आत्मा और परमात्मा होते हैं, इसलिए आत्मा को जो ज्ञान अपना या ईश्वर का प्राप्त हुआ करता है, उसीका नाम प्रतिबोध हुआ करता है। उपनिषद् के इस व्याख्यान्तर्गत वाक्य में शिक्षा यह दी गई है कि इस प्रतिबोध (आत्मानुभव) से, प्राप्त विज्ञान से, मनुष्य अमरता (मोक्ष) प्राप्त करता है। उसे अपने उत्कर्ष से बल (शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार का) प्राप्त करना चाहिए। और उपलब्ध विज्ञान से अमरता लाभ करना चाहिए। परन्तु इस प्रतिबोध की प्राप्ति अहंकार के तिरोहित या नाश होने से ही हुआ करती है। अहंकार के नाश से ममता का नाश होता है और ममता के नाश से मनुष्य (आत्मा) और परमात्मा के बीच से 'दुई परदा' उठ जाता है। यही मनुष्य-जीवन का अंतिम ध्येय है:—

दिया अपनी खुदी को जो हमने मिटा,
वह जो परदा सा बीच में था न रहा।
रहा परदे में अब न वह परदा-नशीं,
कोई दूसरा उसके सिवाय न रहा।।

**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**
**भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।५।।**

**इति द्वितीयः खण्डः ।।२।।**

अर्थः—यहीं यदि उस (ब्रह्म) को जान लिया तो ठीक है, (परन्तु) यदि उसे यहाँ न जाना तो सर्वनाश हुआ। धीर पुरुष प्रत्येक भूत में उसकी खोज (तत्वज्ञान प्राप्त) करके इस लोक से पृथक् होकर अमर हो जाते हैं।

**व्याख्या**

उपनिषद् के इस खण्ड में ब्रह्मज्ञान का साधन बतलाकर चुनौती दी है कि उसे (ब्रह्म को) प्राप्त जीवन ही में जानने का यत्न करना चाहिए, अन्यथा ऐसा न करने से हानि होगी। जगत् के एक-एक पदार्थ में ब्रह्म आकाशवत् ओत-प्रोत हो रहा है। इसलिए उसकी खोज तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करते हुए ही करनी चाहिए। इस प्रकार उसकी खोज करते हुए धीर पुरुष अमरत्व प्राप्त किया करते हैं।

१. एक जगह टाल्स्टाय ने भी इसी प्रकार की बात कही है। उसने कहा कि—'ईश्वर हममें से प्रत्येक के अन्दर विराजमान है। मनुष्य का सर्वोच्च पुरुषार्थ इसी में है कि, उस दिव्य ज्योति के प्रकाश से अपने हृदय को प्रकाशित रक्खें। उसके शब्द ये हैं :—

The spirit of God exists in each one of us, the highest good for man is to cherish this Divine Spirit within himself.

—Tolstoy

□

# तृतीय: खण्ड:

**ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये, तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त, त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥**

अर्थ:—ब्रह्म निश्चय देवों के लिये विजयी हुआ, उस ब्रह्म की विजय से देव बढ़ने (अभिमान करने) लगे। वे समझने लगे कि हमारी ही यह विजय है और हमारी ही यह महिमा है ॥१॥

**तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव, तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥२॥**

अर्थ:—वह (ब्रह्म) इन (देवों) का (भाव) जान गया और उनके समक्ष प्रकट हुआ। (परन्तु) वे देव न जान सके कि यह यक्ष[1] कौन है? ॥२॥

---

१. आख्यायिका में आये "यक्ष" शब्द का भाव परब्रह्म परमेश्वर ही है। इसके लिये कुछ-एक प्रमाण दिये जाते हैं :—

(१) अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदु: ॥

(अथर्व० १०।२। ३१, ३२)

अर्थात् जिसमें ८ चक्र और नव द्वार हैं, ऐसी अयोध्या देवों की नगरी है। उसमें प्रकाशमय कोश जो तेज से परिपूर्ण स्वर्ग है। उस प्रकाशमय कोश में जो तीन अरों से तीन केन्द्रों में केन्द्रित है और जिसमें आत्मवान् यक्ष है, उसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

(२) यक्षं पृथिव्यामेकवृदेक: ॥ (अथर्ववेद)
अर्थात् पृथिवी में एकवृत (व्यापक) यक्ष एक ही है।

(३) महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति।

(अथर्ववेद १० ।८।१५)

अर्थात् त्रिभुवन के मध्य में जो बड़ा यक्ष है, उसके लिये राष्ट्र के सेवक बलि देते अर्थात् अपने को न्यौछावर करते हैं।

इसके सिवाय और भी बहुत प्रमाण दिये जा सकते हैं परन्तु विस्तार के भय से नहीं दिये गए हैं। उपनिषद् की इस व्याख्या के अन्त में अथर्ववेद का 'केन सूक्त' परिशिष्ट के तौर से दिया गया है। उसमें इस यक्ष का समर्थन मिलेगा।

**तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।३।।**

अर्थ:—उन्हीं (देवों) ने अग्नि से कहा कि हे जातवेद ! जानो कि यक्ष कौन है ? अग्नि ने यह स्वीकार कर लिया ।।३।।

**तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्य ब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।।४।।**

अर्थ:—वह अग्नि (ब्रह्म के पास) गया । उससे ब्रह्म ने पूछा कि तू कौन है अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ और मुझ ही को जातवेदा भी कहते हैं ।।४।।

**तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ।।५।।**

अर्थ:—(ब्रह्म ने पूछा कि) तुझ में क्या शक्ति है । (अग्नि ने उत्तर दिया कि) इस पृथिवी पर जो कुछ है उस सब को मैं जला सकता हूँ ।।५।।

**तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।६।।**

अर्थ:—उस (अग्नि) के लिए एक तिनका रख दिया (और ब्रह्म ने कहा) कि इसको जला, (अग्नि) उस तिनके के पास पूर्ण वेग के साथ गया (परन्तु) उसे जला न सका । तब वह पीछे लौट आया (और देवों से कह दिया) जो यह यक्ष है, उसके जानने में मैं असमर्थ हूं ।।६।।

**अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि, किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।७।।**

**तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहस्मीति ।।८।।**

**तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ।।९।।**

**तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं, यदेतद्यक्षमिति ।।१०।।**

अर्थ:—तब (देवों ने वायु को कहा कि हे वायु ! तू जान कि, यह यक्ष कौन है ? उसने स्वीकार कर लिया ।।९।।

वह (वायु) ब्रह्मा के पास (अभ्यद्रवत्) गया, उससे (ब्रह्म ने) पूछा कि, तू कौन है ? उसने उत्तर दिया कि मैं वायु हूं और मुझ ही को मातरिश्वा भी कहते हैं ।।८।।

(ब्रह्म ने पूछा कि) तुझ में क्या शक्ति है ? (वायु ने उत्तर दिया कि) (यद् इदं, पृथिव्याम इदं सर्वम्, अपि आददीय) जो कुछ इस पृथिवी पर है, उस सब

को मैं उड़ा सकता हूँ ।।९।।

(ब्रह्म ने) उसके लिये एक तिनका (निदधौ) रक्खा कि इसको उड़ा वह वायु पूरे बल के साथ उस तिनके के पास गया (परन्तु) (तत् न शशाक आदातुम्) उसको उड़ा नहीं सका । तब वह भी पीछे लौटा (और देवों से कहा) कि मैं यह जानने में असमर्थ हूँ कि यह यक्ष कौन है ।।१०।।

**अथेन्द्र मब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि, किमेतद् यक्षमिति, तथेति । तदभ्यद्रवत् तस्मात्तिरोदधे ।।११।।**

अर्थ:—तब इन्द्र से (देवों) ने कहा कि हे मघवन् ! तू जान कि यह यक्ष कौन है ? (इन्द्र ने) स्वीकार कर लिया, वह (इन्द्र ब्रह्म के पास) गया (परन्तु वह ब्रह्म) उससे छिप गया ।।११।।

**स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँहैमवतीं तां होवाच, किमेतद् यक्षमिति ।।१२।।**

इति तृतीयः खण्डः ।।३।।

अर्थ—उसी आकाश में अति सुन्दर हेमवती उमा नामक स्त्री के समक्ष (स आजगाम) वह (इन्द्र) आ गया और उस स्त्री से पूछा कि यह यक्ष कौन है ?

**व्याख्या**

इस तीसरे खण्ड में एक आख्यायिका के द्वारा यह प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है कि समस्त भूत और इन्द्रियाँ ईश्वर की दी हुई शक्ति ही से काम करती हैं । आख्यायिका में जो यह कहा गया है कि अग्नि एक तृण को नहीं जला सका और न वायु उसे उड़ा सका, ऊपरी दृष्टि के साथ देखने से तो यह बात कुछ अत्युक्ति की-सी मालूम देती है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस कथन की सत्यता प्रकट हो जाती हैं । अग्नि, वायु आदि जब तक सूक्ष्म भूत के रूप में रहते हैं, तब तक अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं । लकड़ी में अग्नि मौजूद है परन्तु है सूक्ष्म भूत के रूप में इसीलिये अप्रकट है । जब तक अग्नि इस सूक्ष्म रूप में रहती है, एक तिनके को भी नहीं जला सकती, परन्तु जब संघर्ष के द्वारा उसको व्यक्त (प्रकट) करते हैं तब वह समस्त संसार को भी भस्म कर देने की योग्यता वाली हो जाती है । यदि कोई कहे कि लकड़ी में अग्नि मौजूद ही नहीं, तो वह बात सर्वथा मिथ्या होगी क्योंकि यदि मौजूद नहीं तो, संघर्षण से कहाँ से आ जाती है ? संघर्षण से भी नहीं उत्पन्न होनी चाहिये थी । निष्कर्ष यह है कि पंचभूत जब तक सूक्ष्म और अव्यक्त रहते हैं, अपना-अपना काम जो व्यक्त होने पर कर सकते थे, नहीं कर सकते, परन्तु जब उनका परिवर्तन स्थूल और व्यक्त रूप में हो जाता है, तब वे अपना-अपना काम करने लगते हैं ?

आख्यायिका में अग्नि-वायु उपलक्षण के तौर पर समस्त (पंच) भूतों के लिये प्रयुक्त हुए हैं । जिस प्रकार अव्यक्त हुए हैं । जिस प्रकार अव्यक्त अवस्था में होने

से अग्नि की असमर्थता प्रकट हुई उसी प्रकार अन्य भूतों की हालत भी समझनी चाहिए। दूसरी बात जो आख्यायिका में वर्णित है, यह है कि ये पंच भूत उस यक्षरूपी ईश्वर को नहीं जान सके। यह तो स्पष्ट है कि पंचभूत जड़ हैं और जड़ होने के कारण उसको जान भी किस प्रकार सकते थे।

इस आख्यायिका में अग्नि वायु जहाँ एक ओर पंचभूतों के प्रतिनिधि रूप में प्रयुक्त हैं वहाँ दूसरी ओर उनसे इन्द्रियों की सत्ता भी अभिप्रेत है। अग्नि से चक्षु और वायु से त्वचा का अभिप्राय लिया जाता है। जिस प्रकार पंचभूत न ईश्वर की दी हुई शक्ति के विना काम करते हैं न उसके जानने का (साक्षात्) साधन ही हो सकते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियां भी बिना ईश्वर-प्रदत्त सामर्थ्य के काम नहीं कर सकती हैं, और न उसकी प्राप्ति का साधन ही हो सकती हैं। इन्द्रियों की शक्ति और इन्द्रियों के गोलक पृथक्-पृथक् स्थानों पर हैं। इन्द्रियों की शक्ति जिन्हें सूक्ष्म इन्द्रियाँ कहना चाहियें, सूक्ष्म शरीर के अवयव हैं शक्ति की हैं और मस्तिष्क स्थानी हैं, परन्तु इन्द्रियों के गोलक स्थूल शरीर के बाह्य अवयव हैं। जब तक इनमें प्राकृतिक नियमों द्वारा मेल (Harmony) न हो, इन्द्रियां काम नहीं दे सकतीं। कल्पना करो कि आँख के गोलक ठीक हैं, परन्तु दृक्शक्ति के साथ उनका मेल नहीं तो आंख देखने का काम नहीं कर सकती। इसी प्रकार यदि दृक्-शक्ति ठीक है और उसका चक्षु के गोलकों से मेल भी हैं परन्तु गोलकों में त्रुटि है तब भी आंखें काम नहीं दे सकतीं। इन्द्रियों के गोलक आमतौर से बहिर्मुखी हैं, इस लिए 'तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (कठोपनिषद् ४।१) के आदेशानुसार ये बाहर के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ही को ग्रहणकर सकते हैं हैं और इसलिये ये आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति के स्टेशन समझे जाते हैं। परन्तु ईश्वर की प्राप्ति बाहर नहीं, किन्तु भीतर की ओर चलने से हुआ करती है। जैसे कि कहा गया है :—

**वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत्।** (यजुर्वेद ३२।८)

अर्थात् योगी ईश्वर का हृदयाकाश में साक्षात्कार करता है।

**आत्मनात्मानमभि सं विवेश।** (यजु० ३२।११)

अर्थात् जीवात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करो।

**मनसैवेदमाप्तमव्यम्॥** (कठोपनिषद् ४।११)

अर्थात् ईश्वर मन (अन्तःसामर्थ्य) ही से प्राप्त होने योग्य है।

**तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाँ सुखं शाश्वतनेतरेषाम्॥**

अर्थात् जो धीर पुरुष आत्मा में प्रवेश करके ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को चिरस्थायी सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। इसलिये स्पष्ट है कि इन्द्रियों से कोई ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।

आख्यायिका में आगे कहा गया है कि जब पंचभूतों अथवा इन्द्रियों से वह यक्षरूप ब्रह्म जाना नहीं जा सका, तब देवों ने इन्द्र को कहा कि वह उसे जाने परन्तु उससे ब्रह्म तिरोहित हो गया। तब उस (इन्द्र) ने 'उमा' के आदेश से ब्रह्म को जाना। 'इन्द्र' और 'उमा' क्या है यह जानने ही से आख्यायिका का भाव स्पष्ट होगा।

## इन्द्र कौन है ?

**इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्र दत्तमिति वा**

(अष्टाध्यायी)

पाणिनी के इस सूत्र से इन्द्रिय शब्द सिद्ध हुआ और 'इन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियम्' के अनुसार इन्द्र वह है, जिसके कर्त्तव्य के साधन इन्द्रिय हैं। स्पष्ट है कि इन्द्र जीवात्मा को कहते हैं। यद्यपि इन्द्रिय शब्द ब्रह्म, जीव, राजा विद्युत् आदि अनेक अर्थों में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ यक्ष (ब्रह्म) का ज्ञाता इन्द्र है, इसलिये यहाँ उचित रीति से इन्द्र शब्द का अर्थ जीवात्मा ही किया जा सकता है।

## उमा कौन है ?

**विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा**

(शांकर भाष्य' केन, मन्त्र २५)

श्रीमान् शंकराचार्य जी ने उमा को उपर्युक्त वाक्य में स्त्री रूपा विद्या कहा है। श्री रामानुजाचार्य ने भी शंकर ही का अनुकरण करते हुए इसी उपनिषद् की टीका में लिखा है :—

**स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम ।।**

अर्थात् स्त्री रूपा विद्या आई। इन दोनों महानुभावों ने 'उमा' को जहाँ विद्या कहा है, वहाँ शंकर की पत्नी पार्वती अर्थ भी इस शब्द का किया है। परन्तु पं० श्रीधर शास्त्री पाठक संस्कृताध्यापक डक्कन कालेज ने अपनी इस उपनिषद् की विस्तृत संस्कृत-समालोचना में लिखा है कि, भगवान् आद्य शंकराचार्य पौराणिकों का मत स्वीकार करने के पक्षपाती नहीं थे, इसलिये उनके भाष्य में हैमवती का अर्थ, हिमालय पर्वत की पुत्री पार्वती, ऐसा जो इस समय मिलता है, वह वास्तविक उनका नहीं है, किसी लेखक के दोष से उस भाष्य में प्रक्षिप्त हो गया है।' (देखो संस्कृत-समालोचना का पृष्ठ ७,८)। इसलिये शंकर और रामानुज महानुभावों का तात्पर्य उमा शब्द से विद्या या ब्रह्म-विद्या ही स्वीकार किये जाने के योग्य है। और उचित रीति से, जीवात्मा के लिये ब्रह्म की प्राप्ति का साधन, ब्रह्म विद्या को कहा भी जा सकता हैं। परन्तु इस पक्ष के स्वीकार कर लेने में एक ही आपत्ति हो सकती है और वह यह है कि ब्रह्म विद्या एक विस्तृत विद्या है। इसमें प्रस्थानत्रयी

(उपनिषद्, वेदान्त दर्शन और गीता) के सिवाय अन्य भी अनेक योग और सांख्यादि विद्याओं का समावेश है। इसलिये स्वाभाविक है कि ब्रह्मविद्या में ब्रह्म प्राप्ति के अनेक दूर और समीप वाले सभी साधनों का संयोग हो, परन्तु आख्यायिका में कही है कि उमा ने बतलाया और उमा के बतलाने से इन्द्र ने जान लिया कि वह यक्ष ब्रह्म है। इसलिये आख्यायिका का विवरण चाहता है कि उमा कोई ऐसी चीज होनी चाहिये जो ब्रह्मप्राप्ति का दूरस्थ नहीं किन्तु समीपस्थ साधन हो। इसलिए इस समीपस्थ साधन की खोज करनी चाहिए। खोज करते हुए जब हम महामुनि पतञ्जलि की सेवा में पहुंचते हैं तो वहाँ उत्तर मिलता है कि—

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम् ॥**

(योग दर्शन १।२०)

अर्थात्—अन्यों (विदेहों और प्रकृतिलयों से भिन्नों) की श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि और प्रज्ञापूर्वक (उपाय प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात योग की सिद्धि) होती हैं। भाव इसका यह है कि जब योगी उपाय-प्रत्यय नामक असंप्रज्ञातयोग सिद्ध करना चाहता है, तब उसको प्रथम श्रद्धा-(सत्य पर अटल विश्वास) सम्पन्न होना चाहिए। यह श्रद्धा माता के समान योगी की रक्षा करती है, जिससे योगीवीर्य (इस योग को सिद्ध करने वाला बल) सम्पन्न होता है। तब वीर्यवान् योगी को स्मृति उपस्थित होती है, जिससे चित्त का स्मृति-भंडार उस पर खुल जाता है और चित्त के इस प्रकार पट खुल जाने से योगी और व्याकुलता-रहित हो जाता है। यही चित्त की समाधि है, इस समाधि (समाधान) से प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। प्रज्ञा वह बुद्धि है, जिससे योगी पर मैं क्या हूं, जगत् क्या है, ईश्वर क्या है, इत्यादि सभी भेद खुल जाते हैं और वह तत्व-ज्ञानी हो जाता है। व्यास के कथनानुसार इस प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करने से इस (प्रज्ञा) से भी योगी को वैराग्य होकर असंप्रज्ञात योग की सिद्धि हो जाती है। फिर एक दूसरे स्थान पर अविद्या के हटाने (हान) का उपाय बतलाते हुए योग दर्शन में लिखा है:—

**"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥**

(योगदर्शन २।२६)

अर्थात् विच्छेदरहित विवेक-ख्याति (अविद्या के हान का हटाने का) उपाय है। भाव इसका यह है कि प्रकृति और पुरुष के वास्तविक भेद को अनुभव करने रूप विवेक की ख्याति उपाय है, जिस उपाय के निरन्तर चिरकाल-पर्यन्त अभ्यास करने से पुरुष (आत्मा) को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है। यही साक्षात्कार

करने वाली बुद्धि 'समाधि-प्रज्ञा' कहाती है। इस समाधि-प्रज्ञा से मिथ्या ज्ञान दग्ध-बीज होकर समस्त क्लेशादि का नाश हो जाता है विवेक-ख्याति दृढ़ और अटल हो जाती है।

"तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा"॥ (योगदर्शन २।२७)

अर्थात् उस (समाधि-प्रज्ञा-प्राप्त योगी) की, सात प्रकार की प्रान्त भूमि वाली प्रज्ञा हो जाती है। सूत्र का भाव यह है कि इस प्रकार के विवेकी योगी की प्रज्ञा (बुद्धि) सात प्रकार की प्रान्त भूमि (जिन अवस्थाओं को प्रांत—परला सिरा कहते हैं) वाली हो जाती है। वे ७ प्रकार ये हैं—

(१) **जिज्ञासा का अन्त**—अर्थात् सब कुछ जो ज्ञातव्य था, जान लिया। अब जानने की इच्छा समाप्त हुई।

(२) **जिहासा अन्त**—अविद्या आदि पांचों क्लेश छोड़ दिए। अब कुछ छोड़ना बाकी नहीं रहा।

(३) **प्रेप्सा का अन्त**—हान को पा लिया। अब कुछ पा लेना शेष न रहने से प्रेप्सा=प्राप्त करने की इच्छा पूरी हो गई।

(४) **चीकीर्षा का अन्त**—हान का उपाय कर लिया गया, अब कुछ करना भी बाकी नहीं रहा।

नोट—इन चारों को प्रज्ञा (बुद्धि) की विमुक्ति (छुटकारा) कहते हैं।

(५) **बुद्धि सत्व की कृतकृत्यता**—अर्थात् मेरा बुद्धिसत्व कृतार्थ हो गया अब इसका अन्त आ गया।

(६) **बुद्धि रूप में परिणत (रूप बदले हुए) गुण भी अपने कारण (प्रकृति) में लय हो गए**—जैसे पहाड़ से लुढ़कता हुआ कच्चा पत्थर या मिट्टी का ढेला कहीं ठिकाना न पाने से, टूटते-टूटते रेत बन जाता है, इसी प्रकार सत्वादि तीनों गुण बुद्धि-सत्व सहित लय को प्राप्त हो जाते हैं।

(७) **आत्मा का अपने स्वरूप में भासना**—अर्थात् प्रकृति के गुणों से पृथक् स्वरूप मात्र में अवस्थित, सत्-चित्-आत्मा, केवली पुरुष (जीवात्मा) परमात्मा का साक्षात् करेगा, अब कुछ बाकी नहीं रहा, सब कुछ प्राप्त हो गया।

नोट—इन अन्तिम तीन भूमियों को चित्त की विमुक्ति कहते हैं। फिर एक जगह योग दर्शन में आता है—

**तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः**॥ (योगदर्शन ३।५)

उस (संयम=धारणा, ध्यान और समाधि की एकत्रित शक्ति) के जय (सिद्ध=पूरा होने) से प्रज्ञा (बुद्धि) का आलोक (नैर्मल्य) हो जाता है। बुद्धि के निर्मल होने का अभिप्राय यह है कि उसके द्वारा दूरस्थ वा दीर्घकालान्तरित विषयों का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

फिर लिखा है कि—

**सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।।** (योगदर्शन ३।५४)

अर्थात् सत्व (बुद्धि) और पुरुष (जीवात्मा) की शुद्धि समान एक जैसी हो जाने पर, कैवल्य (मोक्ष) होता है। महर्षि व्यास ने इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि सत्व (बुद्धि) में जब अविद्या निवृत्त हुई तो रोगादि दोष दूर हुए। इनके दूर होने से (सकाम) कर्म छूटे, कर्म के छूटने से जन्म छूटा, जन्म के छूटने से दुःख छूटा, दुःख छूटने से मोक्ष हुआ। समाधि-पाद के अन्त में लिखा है—

**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।।** (योग० १।४८)

अर्थात् तब प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतम्भरा (केवल सत्य की ग्राहक=निर्भ्रमा) हो जाती है।

**श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामान्यविषया विशेषार्थत्वात् ।** (योग० १।४९)

अर्थात् (वह ऋतम्भरा बुद्धि) विशेष-विषयिणी होने से श्रुत-शास्त्र और अनुमान की प्रज्ञा से भिन्न विषया है।

शास्त्र और अनुमान से भी पदार्थों का ज्ञान होता है, परन्तु साक्षात्कार नहीं होता, इस ऋतम्भरा बुद्धि की विशेषता यही है कि इससे साक्षात्कार होता है।

**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्राबन्धी ।।** (योग० १।५०)

इस (ऋतम्भरा बुद्धि) से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों का हटाने वाला है।

**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।।** (योग० १।५१)

अर्थात् उस (ऋतम्भरा से उत्पन्न संस्कार) के भी रोकने पर सबके रुक जाने से निर्वीज (असंप्रज्ञात) योग सिद्ध हो जाता है। यही मानवीय जीवन का अन्तिम ध्येय और यही मनुष्य की अन्तिम गति है।

योगदर्शन के उपर्युक्त सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म-प्राप्ति (या मोक्ष) का निकटवर्ती साधन प्रज्ञा (बुद्धि) ही है, जिस समय इस बुद्धि का सुधार होते-होते वह "ऋतम्भरा" नाम वाली बुद्धि हो जाती है, तब उससे चित्त में वर्तमान सभी संस्कार और वासना आदि की समाप्ति हो जाती है और इनको समाप्त करके मुमुक्षु को अन्तिम ध्येय मक पहुँचा देने के लिए, वह अपना ही बलि-दान कर देती है और उसका यह आत्मबलिदान मुमुक्षु को कृतार्थ कर देने का साधन वन जाता है। इसलिए आख्यायिका में आये "उमा" शब्द का भाव बुद्धि ही हो सकता है। इन्द्र ने उमा की सहायता से ब्रह्म को जाना। इसका तात्पर्य अब साफ हो गया कि जीवात्मा (इन्द्र) ने बुद्धि (उमा) की सहायता से ब्रह्म को प्राप्त किया। आख्यायिका में जो कहा गया है कि इन्द्र से ब्रह्म तिरोहित हो गया, उनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म जगत् को जगत् के रूप में व्यक्त करके भी स्वयं अव्यक्त (अप्रकट) ही रहता है।

।। इति तृतीयः खण्डः ।।

# अथ चतुर्थः खण्डः

**सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजयेमही यध्वमिति, ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ॥१॥**

अर्थ—उस स्त्री ने उत्तर दिया कि वह (यक्ष) ब्रह्म है। ब्रह्म ही की इस विजय में महत्व लाभ करो, (तब इन्द्र को) इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हुआ।

**तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्। यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनप्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥२॥**

अर्थ—इसलिए ये देव अन्य देवों से आगे बढ़ गये (क्योंकि) ये जो अग्नि, वायु और इन्द्र हैं (ते, हि, एनत्, नेदिष्ठं पस्पृशुः) ये ही देव अपने समीप स्थित ब्रह्म को देख सकें और वे ही पहले ब्रह्म को जान पाये।

**तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥३॥**

अर्थ—(क्योंकि) इन्द्र (एनत्) इस ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अति समीप (पस्पर्श) देखने वाला हुआ (सः हि) और उसी ने (एनत्) इस यक्ष को (प्रथमः विदाञ्चकार) सबसे पहले जाना (तस्मात्, स, अन्यान्, देवान्) इसलिए वह अन्य देवों से (अतितराम् इव) श्रेष्ठ हुआ।

**व्याख्या**

आख्यायिका को समाप्त करते हुए उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्यों में प्रकट किया गया है कि अग्नि, वायु और इन्द्र को अन्य देवों (पंचभूतों या इन्द्रियों) से इसलिए तरजीह हैं कि ये ब्रह्म की समीपता प्राप्त कर चुके हैं और इन तीनों में इन्द्र को बाकी दो से इसलिए श्रेष्ठता हासिल है कि उसने सबसे पहले ब्रह्म को जाना था।

**अग्नि की विशेषता**—संसार में उष्णता और गति का कारण अग्नि है। इन दो वस्तुओं को यदि जगत् से पृथक रख दिया जावे तो फिर जगत् जगत् नहीं

रह सकता । संस्कृत में अग्नि शब्द जिन 'अग', 'अगि' धातुओं से बनता हैं उनके अर्थ गति के हैं । टिन्डल (Tyndial) ने भी अपने ग्रंथों में अग्नि को गति ही कहा है। उसके शब्द ये हैं—Heat is a made of motion सूर्य अग्नि का पुंज ही है । सूर्य की उपयोगिता जगत् प्रसिद्ध है । शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को 'रक्षसाम् अपहन्ता' कृमि (germ) नाशक कही है। ऋग्वेद की पहली ही ऋचा में अग्नि को यज्ञ का देव, ऋतुओं और रत्नों को पैदा करने वाला कहा गया है ।

**वायु की विशेषता**—वायु के भेदों का नाम ही प्राण, अपान आदि है। मनुष्य जीवन की स्थिति में प्राण की सबसे अधिक उपयोगिता होने के कारण ही मनुष्य को प्राणी कहा जाता है। प्राण शक्ति (Vital Force, Vital Energy) ही से शरीर के समस्त व्यापार पूर्ण हुआ करते हैं।

**इन्द्र की विशेषता**—इन्द्र की विशेषता अग्नि और वायु से अधिक होने का काम स्पष्ट है। अग्नि और वायु पंचभूतों के अंग होने से जड़ हैं, इनमें चेतना का अभाव है परन्तु इन्द्र (जीवात्मा) चेतनापूर्ण वस्तु है। अथर्ववेद में एक मन्त्र आया है :—

**अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।**
**तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ।।**

अथर्ववेद ४ । १४ । १ ।।

अर्थात् (हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) निश्चय (ब्रह्म रूप) अग्नि के तेज से (अजः) जीवात्मा प्रकट हुआ। (स अग्रे जनितारम् अपश्यत्) उसने पहले अपने उत्पादक प्रभु को देखा, (अग्रे तेन देवाः देवताम् आयन्) प्रारम्भ में उसी (प्रभु) की सहायता से देव (अग्नि आदि ५ भूत अथवा चक्षु आदि इन्द्रियाँ) देवत्व को प्राप्त हुए। (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बन कर उच्च स्थानों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में स्पष्ट रीति से दो बातें वर्णित हैं।

१—उस जीव ने पहले अपने उत्पादक प्रभु को देखा।

२—देव उसी (प्रभु) की सहायता से देवत्व को प्राप्त हुए। मंत्र ने उपनिषद् में आई आख्यायिका के भाव को, जो इस व्याख्या की उपर्युक्त पंक्तियों में खोला गया है, पुष्ट कर दिया और अब वेद के प्रमाण से भी इन्द्र का जीवात्मा होना पंचभूतों तथा इन्द्रियों का ब्रह्म से शक्ति प्राप्त करके अपने-अपने काम के योग्य होना, प्रमाणित हो गया।

**तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३**
**इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ।।४।।**

अर्थ—(तस्य एषः आदेशः) उस ब्रह्म का आदेश है। (यत्) जो (एतत्)

यह (विद्युतः) बिजली का (व्यद्युत ✕ आ इति) चमकना और छिपना है। (इत्) और (न्यमीमिषद्+आ) आँख का खुलना वा बन्द हो जाना है। (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) देवताविषयक ब्रह्म का उपाख्यान है।

जगत की एक-एक रचना जबाने-हाल से प्रभु की सत्ता का सन्देश दे रही है। एक उर्दू कवि ने क्या अच्छा लिखा है :—

हवा नहीं है ये, नेचर की सर्द आहें हैं।
सितारे कब हैं ये, हसरत भरी निगाहें हैं॥

उपनिषद् के इस वाक्य में विद्युत की चमक और आँखों की दमक को प्रभु आदेश बतलाया गया है। अहा ! कितना सुन्दर आदेश है ! विद्युत् की चमक का उपलक्षण से जगत् की समस्त ज्योतियों को प्रकट कर रही है। दूसरी ओर आँखों में भी ज्योति निहित है। आदेश का भाव स्पष्ट हो गया कि नेत्रों की ज्योति के माध्यम से ज्योति को ग्रहण करके अपने को प्रकाशमय बनाओ, मनुष्य के जीवनोद्देश्य की चरम सीमा भी तो यही है कि तुम तम के अन्धकार से निकल कर सत्य की ज्योति में प्रवेश करो[1] एक दूसरी उपनिषद् में यही भाव, कैसी सुन्दर प्रार्थना में, वर्णन किया गया है—

---

१. सत्व को श्वेत और तम को काले रंग से उपमा देकर श्वेत को अच्छा और काले रंग को बुरा समझा जाता है। क्यों ऐसा समझा जाता है, इसका एक कारण है और महत्वपूर्ण कारण है और वह यह है कि, पदार्थ-विज्ञानवेत्ता बतलाते हैं कि सूर्य की किरणें जिनमें सभी रंग होते हैं, सभी वस्तुओं पर पड़ा करती हैं। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता की दृष्टि से रंग शून्य होती है, सूर्य की किरणों से उनमें रंग आया करते हैं और वे रंगीन दिखलाई दिया करती हैं। गुलाब सब रंगों को अपने में जज्ब करके केवल लाल रंग प्रतिक्षेप (लौटा) कर देता है। इसीलिये वह लाल दिखलाई देता और लाल रंग वाला ही कहा जाता है। इसी नियम के अनुकूल हरा रंग लौटाने से यदि कोई वस्तु हरी कही जाती इत्यादि परन्तु जो वस्तु कुछ नहीं लौटाती है, सारे रंगों को अपने भीतर ही लिया करती है वह काली कही जाती है और जो सब लौटा कर अपने पास कुछ नहीं रखती उसे सफेद कहा करते हैं। अब काले और सफ़ेद रंग का अन्तर स्पष्ट हो गया जो सर्वस्व न्योछावर कर देवे वह सफेद और जो सब कुछ अपने भीतर ही रख लेवे, वह काला कहा जाता है। सत्व को श्वेत कहे जाने का कारण यही है कि उससे मनुष्य की वृत्ति सर्वस्व-त्याग की हो जाया करती है परन्तु तम की अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है। जो सब कुछ अपने पास ही रखने का इच्छुक हो उसी को तमोगुण कहा करते हैं।

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमयेति ।।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

**अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ।।५।।**

अर्थ :—(अथ) अब (अध्यात्मम्) अध्यात्म (कहते हैं) (यत्) जो (एतत्) इस ब्रह्म के प्रति (मनः) मन (गच्छति इव) चलता हुआ सा है, (च) और (अनेन) इस (मन) से उठे (संकल्प) संकल्प से (अभीक्ष्णम्) बार-बार (एतत्) इस ब्रह्म का (उपस्मरति) स्मरण करता है ।

**व्याख्या**

यदि कोई नियम से निरन्तर सात या आठ घंटे 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' की मर्यादा से प्रणव (ओ३म्) का जप करे, तो यह निश्चय है कि, मन ठहर जाता है और उसकी वही हालत जागृतावस्था में हो जाती है, जो सुषुप्ति में हुआ करती है । इसी प्राप्त अवस्था को मन का निर्विषय होना कहा जाता है । मन निर्विषय होकर असाक्षात् रीति से आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत कर देने का कारण बन जाता है परन्तु साक्षात् कारण नहीं बन सकता । इसीलिये इस उपनिषद्-वाक्य में मन को ब्रह्म की ओर (गच्छति, इव चलता हुआ-सा कहा गया है । यदि कोई चाहता है कि आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत करके प्रत्यगात्मदर्शी बने, तो उसको उपर्युक्त भाँति प्रणव का जप करना चाहिए । इसी का नाम अध्यात्म है ।

**तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ।।६।।**

अर्थः—(तत्) वह ब्रह्म (ह) निश्चय से सबको (तद्वनं) वन्दनीय=उपास्य होने से (तद्वनं) तद्वन नाम से (प्रसिद्ध है) । (इति) और (उपासितव्यं) उपासना करने योग्य है । (स, यः) सो जो कोई (एतत् इस ब्रह्म को) (एवम्) इसी प्रकार (वेद) जानता है (एनम्) उसकी (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अभिसंवाञ्छन्ति) चाहना करते हैं ।

**व्याख्या**

जो कोई ईश्वर को वन्दनीय और उपासनीय समझकर उसकी वन्दना और उपासना करता है, उसकी सब प्राणी क्यों चाहना करते हैं, यह प्रश्न है, जिसका उत्तर ही, इस उपनिषद् वाक्य की व्याख्या होगी । वह उपासक उपासक नहीं समझा

जा सकता, जिसका हृदय प्रेम से लचकीला न हो चुका हो। प्रेम से भरपूर हृदय में प्राणीमात्र की मंगल कामना के सिवा, दूसरा भाव नहीं आ सकता। फिर भला जिस व्यक्ति में प्राणी मात्र के लिए प्रेम और मंगलकामना के सिवा और कुछ न हो, कैसे सम्भव है कि, उसकी चाहना सब न करें ? कहा जाता है कि एक वार बुद्ध ने देखा कि एक राजा सहमे हुए एक हरिण को खदेड़े जा रहा था और इच्छा कर रहा था कि तीक्ष्ण बाण से उसका काम तमाम करदे। बुद्ध दुःख से पीड़ित होकर राजा के पास गया और बड़ी नम्रता और विनय से बोला कि राजा यह तीर तू मेरे मार दे, परन्तु निरपराध हरिण को न मार। राजा का हृदय बुद्ध के इस प्रेम को देखकर पिघल गया और उसने हरिण को छोड़ दिया, बुद्ध के इस प्रेम का हजारों वर्ष बीतने पर भी करोड़ों हृदयों पर राज्य है परन्तु नैपोलियन, नैलसन, कैसर और किचनर का प्रकाश, अभी से धीमा पड़ने लगा है।

नोट—एक एक बात हमेशा के लिए समझ लेनी चाहिए कि उपनिषद् में जहाँ कहीं इस प्रकार का प्रयोग हो 'स य एतदेव वेद" अर्थात् सो जो कोई इस ब्रह्म को ऐसा जानता है, तो इस जानने के अन्तर्गत तदनुकुल आचरण भी सम्मिलित हुआ करता है। केवल जानने (ज्ञान) अथवा केवल करने (कर्म) का उपनिषद् की शिक्षा में कोई स्थान नहीं है। केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म का सेवन करने के लिए उपनिषद् ने खुले तौर से कह दिया है कि वे (अन्धन्तमः प्रविशन्ति ईशोपनिषद् मन्त्र ६) अन्धकार में पड़ते हैं।

**उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्।**
**ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥**

अर्थ :—शिष्य ने कहा था कि (भोः) हे आचार्य! (उपनिषदं) ब्रह्मविद्या को (ब्रूहि, इति) (मेरे लिए) कहिये (आचार्य कहता है कि) (ते) तेरे लिये (उपनिषद्) ब्रह्मविद्या (उक्ता) कही गई (वाव) निश्चय (ते) तेरे लिये (ब्राह्मीम्, उपनिषदम्) ब्रह्म विद्या सम्बन्धी उपनिषद् (अब्रूम) कह दी गई।

**तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः।**
**सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥८॥**

अर्थः—(तस्यै) आ (ब्रह्म विद्या की प्राप्ति) के लिये (तपः) तप, (दमः) इन्द्रिय निग्रह (कर्म) और निष्काम कर्म (इति) साधन हैं, (वेदा सर्वाङ्गानि) जो वेद और उनके सम्पूर्ण अंगों में (प्रतिष्ठाः) प्रतिष्ठित हैं और जिनका (आयतनम्) आधार (सत्यम्) सत्य हैं।

**यो वा एतामेवं वेदाऽपहत्य पाप्मानमनन्ते।**
**स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥**

**इति चतुर्थः खण्डः ॥**

अर्थः—(यः) जो कोई (वै) निश्चय से (एताम्) इसब्रह्म विद्या को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, (वह) (पाप्मानत्य) पापों का (अपहयत्य) दूर कर (अनन्ते) अनन्त (ज्येये) श्रेष्ठ (स्वर्गे, लोके) आनन्दमय पद में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है ।

**व्याख्या**

उपर्युक्त ३ वाक्यों में से पहला वाक्य स्पष्ट है । दूसरे वाक्य में, उपनिषद् के पहले वाक्य में जिस ब्रह्मविद्या के कह दिए जाने की बात कही गई है, उसी ब्रह्मविद्या) के साधन बतलाये गये हैं। वे साधन ३हैं—१) तप (२) दम, (३) कर्म । इन साधनों के बतला देने का अभिप्राय यह है कि, इन साधनत्रय पर आचरण करने ही से कोई ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है। इनमें से (१) तप[1] कठोरताओं के सहने का नाम है । योगदर्शन में कहा गया है कि तप से अशुद्धियों का क्षय और अशुद्धि-क्षय से देह और इन्द्रियों की सिद्धि होती है :—

**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।।** (योग० २।४३)

एक उपनिषद् में कहा गया है :—

**एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते ।**
**एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति ।**
**एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति ।।**

(बृहदारण्यकोपनिषद् ५।११।१)

अर्थात् रोग के कष्टों का सहना, प्रेत (मरे हुए की लाश) तो श्मशान में ले जाना, चिता में अग्नि लगाना ये महान तप हैं । योग दर्शन और उपनिषद् के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि तप कठोरताओं के सहने, अशुद्धियों को दूर करके शरीर और इन्द्रियों पर अधिकार रखने तथा कठिन समयों पर जनता की सेवा करने का नाम है ।

(२) दम-इन्द्रियों के निग्रह को कहते हैं । इन्द्रियों का ऐसा बना देना 'दम' है, जिससे वे कोई अनुचित काम न कर सकें ।

(३) कर्म-ब्रह्मविद्या का साधक कर्म निष्काम कर्म है, जिस को गीता में कर्म योग कहा गया है । क्यों कर्म से निष्काम कर्म ही का तात्पर्य समझा जावे इसका कारण यह है कि सकाम कर्म से वासना की उत्पत्ति होती है । जिसको उपनिषदों में हृदय-ग्रंथि[2] कहा गया है । इस वासना के चित्त में बने रहने से

---

१. 'तप ऐश्वर्य' धातु से तप ऐश्वर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है ।
२. देखो कठोपनिषद् ६।१५।।

मनुष्य आवागमन के चक्र से नहीं छूट सकता। परन्तु निष्काम कर्म से बन्धन में लाने वाली यह वासना पैदा नहीं होती। यही निष्काम कर्म की विशेषता है।

इन साधनों को बतलाते हुए, उपनिषत्कार ने उनका महत्व प्रकट करने के लिए, प्रकट किया है कि, ये साधन वेद और वेदांगों में प्रतिष्ठित हैं। और वेद वेदांगों के लिए कहा है कि, उनका आयतन (आधार) सत्य है इस सत्य को आधार बतलाने का कारण यह है कि, वेद और वेदांग चाहते हैं कि उनमें वर्णित (तप, दम, कर्म) सत्य पर निर्भर हों। यदि इन साधनों में सच्चाई न हो तो फिर यह साधन, केवल दिखावट की बात रह जाते हैं। नीति में एक जगह कहा गया है:—

**इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।**
**अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधिः स्मृतः॥**
**तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।**
**उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति॥**

अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, धृति और अलोभ यह आठ प्रकार का धर्म का मार्ग है। इनमें से प्रारम्भ के चार दम्भ के लिए भी प्रयुक्त होते हैं परन्तु अन्त के चार (दिखावट से शून्य) महात्माओं में ही होते हैं। अन्त के चार सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ हैं। स्पष्ट है कि सदाचार दम्भ से शून्य हुआ करता है। इसलिये यदि ब्रह्मविद्या के साधन तप, दम और कर्म सत्य पर निर्भर हों तो फिर उनके भीतर दम्भ और दिखावट नहीं हो सकती। उनमें वास्तविकता (Reality) होगी और इस प्रकार वे ब्रह्म विद्या और ब्रह्म की प्राप्ति के असंदिग्ध साधन होंगे। यही भाव उपनिषद् के उपर्युक्त द्वितीय वाक्य का है।

तीसरा और उपनिषद् का अन्तिम वाक्य फल-श्रुति के रूप में है। उसमें बताया गया है कि जो जिज्ञासु उपर्युक्त भांति ब्रह्मविद्या को जानकर उसकी प्राप्ति के साधनों को काम में लाते हैं, वे निष्पाप होकर चिरकाल तक प्राप्त रहने वाले स्वर्ग (ब्रह्म) लोक को प्राप्त कर लेते हैं।

—: ० :—

॥ ओ३म् ॥

# परिशिष्ट

अथर्ववेदान्तर्गत

## केन सूक्त

(अथर्व० १०।२)

**केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ। केनांगुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छलँखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥१॥**

अर्थ—किसने मनुष्य की एड़ियाँ बनाई ? किसने (उनमें) मांस भर दिया ? किसने (गुल्फौ) दोनों टखने बनाये ? किसने सुन्दर उँगलियाँ, किसने (खानी) इन्द्रियाँ, किसने (उच्छलंखौ) दोनों पांवों के तलवे जोड़ दिये ? बीच में किसने आधार बनाया ?

**कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पुरुषस्य । जंघे निर्ऋत्य न्यदधुःक्वस्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥२॥**

अर्थ—किस (पदार्थ) से मनुष्य के (अधरौ) नीचे के दोनों टखने (नु) और मनुष्य के (उत्तरौ अष्ठीवन्तौ) ऊपर के घुटने (अकृण्वन्) बनाये गये ? जांघें (निर्ऋत्य) अलग-अलग बनाकर (क्वस्वित्) क्यों कर (न्यदधुः) जमा दी गईं ? (जानुनोः सन्धी) जानुओं की सन्धि का (क उ) किसने (तत् चिकेत) ढांचा बनाया ?

**चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् । श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥**

अर्थ—चतुष्टयम्) चार प्रकार से (संहितान्तम् जुड़े हुए सिरों वाला (जानुभ्यां ऊर्ध्वं) दोनों घुटनों के ऊपर (शिथिर) ढीला (कबन्ध) धड़ (युज्यते) जोड़ा गया है, (यत् श्रोणी) जो दोनों कूल्हे और (ऊरू) दोनों जाघें हैं(क उ) किसने (तत्+जजान) उनको बनाया है ? (याभ्यां) जिन दोनों के साथ (कुसिन्धम्) धड़ (सुदृढ बभूव) बड़ा दृढ़ हुआ है ।

कति देवा कतमे त आपन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पुरुषस्य । कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान कति पृष्टीरचिन्वत् ।।४।।

अर्थ—वे कितने और कतमे देवाः कौन से देव (प्रकृत्यवयव) थे, जिन्होंने मनुष्य की (उरः छाती और गले को (चिक्युः) एकत्र किया ? (कति स्तनौ व्यदधुः कितनों के स्तनों को बनाया ? (कः कफोडौ) किसने कुहनियाँ बनाईं ? (कति-स्कन्धान्, किसने कन्धों को बनाया ? कति पृष्टीः अचिन्वन्) किसने पसलियों को जोड़ दिया ?

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य यद् देवः कुसिन्धे अध्यादधौ ।।५।

अर्थ—(वीर्यं करवात् इति अस्य बाहू कः समभरत्) यह पराक्रम करे इसलिए इसके बाहू किसने भर दिये ? (कः देवःअस्य तत् अंसौ कुसिन्धे अध्यादधौ) किस देव ने इस (पुरुष) के उन कन्धों को धड़ में धर दिया है ?

कः सप्त खानि वितर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षण मुखम् । येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादा द्विपदो यन्ति यामम् ।।६।।

अर्थ—(इमौ कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखं सप्त खानि शीर्षणि कः वितर्द। ये दोनों कान, दो नाक (के छिद्र), दो आँख और एक मुख मिलकर सात इन्द्रिय-गोलक सिर में किसने खोदे बनाये हैं ? (येषां विजयस्य मह्मनि चतुष्पादः द्विपदः यामंपुरुत्रा यन्ति) जिनके विजय की महिमा में चार और दो पैर वाले प्राणी अनेक प्रकार से मार्ग चलते हैं।

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महिमधि शिश्राय वाचम् । स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ।।७।।

अर्थ—(हि पुरुचीं जिह्वां हन्वोः अदधात्) बहुत ही चलने वाली जीभ को दोनों जबड़ों के बीच में रख दिया है। (अधामहीं वाचं अधिशिश्राय) और प्रभावशाली वाणी को उसमें आश्रित किया है। (अपः वसानः स भुवनेषु अन्तः आवरीवर्ति) आकाश को आच्छादित करता हुआ वह सब भुवनों में परिपूर्ण हो रहा है। (क उ तत् चिकेत) कौन भला उसे जानता है ?

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् । चित्वा हन्वोः पुरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवा ।।८।।

अर्थः—इस मनुष्य का मस्तिष्क, (ललाट माथा) (ककाटिकां) शिर का पिछला भाग, कपाल, (हन्वोः चित्यं, और दोनों जबड़ों के संचय को (यतमः प्रथमः चित्वा) जिस पहले देव ने बनाया। (यः दिवं रुरोह) और जो दिव्य प्रकाश में चढ़ा हुआ है, (स देवः कतमः) वह देव कौन-सा है ?

प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वपनं संबाधतन्द्रयः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पुरुषः ॥९॥

अर्थः—बहुत प्रिय और अप्रिय फलों, निद्रा, (तन्द्रयः) थकावट, (संबाध) विघ्न-बाधाओं, आनन्दों (तन्दान् च) और प्रसन्नताओं को (उग्रः पुरुषः) तेजस्वी पुरुष (कस्माद् वहति) किस कारण से पाता है ?

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुता नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिमतिरुदितयः कुतः ॥१०॥

अर्थः— (आर्तिः) पीड़ा, (अर्वतिः) दरिद्रता, (निर्ऋतिः) बीमारी, (अमतिः) कुमति, (पुरुषे कुतःनु) मनुष्य में कहाँ से आती है ? (राद्धिः) पूर्णता, (समृद्धिः) ऐश्वर्य, (अ+वि×ऋद्धिः) अन्यूनता=पूर्णता, (मतिः) बुद्धि और (उदितयः उदयः=अभ्युदय की प्रवृत्ति (कुतः) कहां से आयी है ?

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्थाय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वाः अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥११॥

अर्थः—(अस्मिन् पुरुषे) इस मनुष्य में (वि+सु+वृतः) विशेष घूमने वाले, (पुरुवृतः) सर्वत्र घूमने वाले, (सिन्धु सृत्याय जाताः) नदी के समान बहने के लिए बने हुए (अरुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः, उर्ध्वाः, अवाची, तिरश्चीः, तीव्राः) लाल रंग वाले, लोहे को साथ ले जाने वाले, ताँबे के धुएं के समान रंग वाले, ऊपर, नीचे और तिरछे, वेग से चलने वाले, (अपः कः व्यदधात्) जल (रक्त) प्रवाह किसने बनाये हैं ?

को अस्मिन्रूपमदधात् को माह्मनं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पुरुषे ॥१२॥

अर्थः—(अस्मिन् रूपं कः अदधात्) इसमें रूप किसने रक्खा है ? (माह्मनं च नाम च कः अदधात्) महिमा और नाम किसने रक्खा है ? (अस्मिन् गातुं कः) इसमें गति किसने रक्खी है ? (कः केतुं) किसने ज्ञान रक्खा है ? (पुरुषे चरित्राणि कः अदधात्) मनुष्य में चरित्र किसने रक्खा है ?

को अस्मिन् प्राणमवयत को अपानं व्यानम् ।
समानमस्मिन् को देवोऽधिशिश्राय पुरुषे ॥१३॥

अर्थः—इस (पुरुष) में किसने प्राण, किसने अपान और व्यान की रचना की है ? इस पुरुष में किस देव ने समान को ठहराया है ?

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पुरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥१४॥

अर्थात् किस एक देव ने इस पुरुष में यज्ञ (शुभकर्म) किसने, सत्य और

किसने असत्य को रख दिया है ? कहाँ से मृत्यु और कहाँ से अमरत्व आता है ।

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥१५॥

अर्थात् इसके लिए (वासः) शरीर रूपी वस्त्र किसने दिया है ? इसकी आयु किसने संकल्पित की है ? इसको बल किसने (प्रायच्छत्) दिया है ? (अस्य जवं कः अकल्पयत्) इसकी जव=स्फूर्ति को किसने रचा है ?

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥१६॥

अर्थात् (केन अ.पः अन्वतनुत) किसने जलों को फैलाया ? (केन अहः रुचे अकरोत्) किसने दिन प्रकाश के लिए बनाया ? (केन उषसं अन्वैन्द्ध) किसने उषा को चमकाया ? (केन सायंभवं ददे) किसने सायंकाल दी ?

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥१७॥

अर्थ—(तन्तु आतायतां इति अस्मिन् रेतः कः निःअदधात्) प्रजातन्तु जारी रहे इसलिए इसमें वीर्य किसने पैदा कर दिया है ? इसमें मेधा (बुद्धि) किसने (अधि+औहत्) उन्नत कर दी है ? (कः बाणं) किसने वाणी और (कः नृतः दधौ) किसने नृत्य[1] (का भाव) रक्खा है ?

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पुरुषः ॥१८॥

अर्थात् (केन इमां भूमिम् और्णोत्) किससे इस भूमि को ढक रक्खा है ? (केन दिवं पर्यभवत्) किसने द्युलोक को घेरा हुआ है ? (केन मह्ना पर्वतान् अभि) किसने अपनी महिमा से पर्वतों को आच्छादित कर रक्खा है ? (पुरुषः केन कर्माणि) किसकी दी हुई शक्ति से मनुष्य कर्मों को करता है ?

---

१. 'उणादि कोष ४ । १९४ में 'नृति गात्रविक्षेपे' अर्थात् देह चालन (शरीर को हरकत देने) के अर्थ में नृत्य शब्द प्रयुक्त हुआ है । भाषण के साथ शरीर को इस प्रकार गति देना जिससे भाषण अधिक प्रभावोत्पादक हो जावे, इसी का नाम नृत्य है । पीछे से यह शब्द अप्सराओं के नाच के अर्थ में रूढ़ हो गया । एक व्याख्याता अपने भावों को व्यक्त करने अथवा किसी बात पर बल देने के लिए जो अपने शरीर को हिलाता-जुलाता या मेज पर हाथ पटकता है, वैदिक साहित्य में इस सबका नृत्य कहते हैं ।

**केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।**
**केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः ॥१९॥**

अर्थः—(पर्जन्यं केन अन्वेति) बादलों को किससे (मनुष्य) प्राप्त करता है ? (विचक्षणं सोमं केन) दर्शनीय सोम को किस से पाता है ? किससे यज्ञ और श्रद्धा प्राप्त करता है ? इसमें मन किसने रख दिया है ?

**केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् ।**
**केनेममग्निं पुरुषः केन संवत्सरं ममे ॥२०॥**

अर्थात् किसके (प्रदत्त ज्ञान) से (श्रोत्रियम्) ज्ञानी वेदज्ञ को प्राप्त करता है ? और किस (की कृपा) से परमेश्वर को प्राप्त करता है ? (पुरुषः केन इमम् अग्निम्) मनुष्य किससे इस अग्नि को पाता है ? केन सम्वत्सरं ममे) और किससे सम्वत्सर (काल) को (पहर, घण्टा, पल आदि बना कर) मापता है ?

**ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।**
**ब्रह्मेममग्निं पुरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥२१॥**

अर्थात् (ब्रह्मश्रोत्रियम् आप्नोति) वेद (की शिक्षा) से ज्ञानी वेदज्ञ को प्राप्त करता है, वेद द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त होता है, वेद द्वारा ही अग्नि को पाता है और वेद द्वारा ही समय की नाप तोल करता है ।

**केन देवां अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः ।**
**केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥२२॥**

अर्थ—केन देवान् अनुक्षियति) किस (के प्रदत्त ज्ञान) से देवों को अनुकूल बनाकर (अपने मध्य में) बसाता है ? (केन ब्रह्म दैवजनीः विशः) किस (के प्रदत्त ज्ञान ही) से दिव्य जन रूप प्रजा को (बसाया जाता है), (केन सत् क्षत्रं उच्यते) किससे ही उत्तम बल कहा जाता । है (केन इदं अन्यत् न क्षत्रम्) किससे यह (ज्ञान) बल से भिन्न नहीं है ।

**ब्रह्म देवां अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः ।**
**ब्रह्मेदमन्यदयन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते ॥२३॥**

अर्थः—(ब्रह्म देवान् अनुक्षियति) ब्रह्म ( वेद-ज्ञान ) देवों को अनुकूल बनाकर बसाता है, (ब्रह्मदैवजनीः विशः) वेद (के ज्ञान) से दिव्य जन रूप प्रजा को (बसाता है) ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते) ज्ञान ही को उत्तम बल कहा जाता है (ब्रह्म इदं अन्यत् न क्षत्रम्) ज्ञान बल से भिन्न नहीं हैं ।

---

Knowledge is power.

**केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता।**
**केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२४॥**

अर्थ:—(केन इयं भूमि: विहिता) किसने इस भूमि को विशेष रीति से रक्खा है ? (केन द्यौ: उत्तरा हिता) किसने द्यु लोक (समस्त प्रकाशक ग्रह) ऊपर रक्खा है ? (केन इदं अन्तरिक्षं) किसने इस अन्तरिक्ष को (ऊर्ध्व तिर्यक् व्यच: हितम् ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रक्खा है ?

**ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।**
**ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२५॥**

अर्थ:—पहला (२४ वाँ) मन्त्र प्रश्न रूप में था और यह (पच्चीसवां) उत्तर रूप में है (ब्रह्मणा भूमि: विहिता) ब्रह्म ने भूमि को विशेष रीति से रक्खा है, (ब्रह्म द्यौ: उत्तरा हिता) ब्रह्म ने द्यौ ऊपर रक्खा है, (ब्रह्म इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं तिर्यक् व्यच: च हितम्) ब्रह्म ने यह अन्तरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रक्खा है।

**मूर्द्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।**
**मस्तिष्कादूर्ध्व: प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षत: ॥२६॥**

अर्थ—(अथर्वा) निश्चल (एक रस रहने वाला) (पवमान:) शुद्धस्वभाव वाला ईश्वर (अस्य मूर्द्धानं यत च हृदयं संसीव्य) इस मनुष्य के मस्तिष्क को और जो हृदय है (उससे) सीकर=मिलाकर (भेजे) जिससे (मस्तिष्कात् ऊर्ध्व:) मस्तिष्क से ऊपर और (शीर्षत: अधि) सिर से नीचे अर्थात् हृदय में होकर (प्रैरयत्) (जगत् में) आवे।

**व्याख्या**

मन्त्र में बहुत ऊँची शिक्षा दी गई है। मस्तिष्क और हृदय दोनों के सम्बन्ध में, कि इनको किस प्रकार से रखना चाहिए, एक अच्छा आदर्श उपस्थित किया गया है। मन्त्र का भाव यह है कि ईश्वर जो एक-रस (अथर्वा) और (पवमान:) शुद्ध पवित्र है वह मस्तिष्क (बुद्धि) को हृदय के साथ मिलता है। तात्पर्य इसका यह है कि मनुष्य को, बुद्धि जिसका काम तर्क है और हृदय जिसका काम प्रेम और विश्वास है, दोनों को मिलाकर रखना चाहिए अर्थात् तर्क से सत्यासत्य का विवेक करे। जो सत्य हो उसे हृदय से श्रद्धा द्वारा ग्रहण कर लेना चाहिए। इस काम के लिए मस्तिष्क को (अथर्वा) निश्चल और हृदय को (पवमान:) पवित्र होना चाहिए। ईश्वर के दो विशेषणों में, जो मन्त्र में दिए गए हैं, यही भाव निहित है। मन्त्र में यह भी कहा गया है कि ईश्वर मस्तिष्क (तर्क की पहुँच) से ऊपर हृदय में है और उत्कृष्ट प्रेम से प्राप्त होता है।

**तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।**
**तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥**

अर्थ—(तद् वै शिरः अथर्वणः देवकोशः समुब्जितः) निश्चय वह शिर निश्चल प्रभु का सुरक्षित दिव्य कोष है अर्थात् उसके दिव्य गुणों के प्रकट करने का, अपनी बनावट और कार्य प्रणाली की दृष्टि से, यह सिर अपूर्व खजाना है, (तत् शिरः प्राणः अन्नं अथो मनः अभिरक्षति) उस सिर की रक्षा प्राण, अन्न और मन करते हैं।

**व्याख्या**

स्पष्ट है कि प्राण अपने कार्यों, अन्न अपने रस और मन अपने प्रेम से सिर की रक्षा किया करते हैं। प्राणायाम द्वारा सिर की रक्षा होना योग की प्रारम्भिक शिक्षा है। मन को मस्तिष्क का रक्षक बतलाकर इस मन्त्र में भी पूर्व वर्णित (देखो मन्त्र २६) सिद्धांत की, मस्तिष्क और हृदय में मेल रहना चाहिए, पुष्टि की गई है।

**ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टाः ३ सर्वा दिशः पुरुष आबभूवां ३ ।**
**पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥**

अर्थ—(पुरुषः ऊर्ध्वः नु) पुरुष (व्यापक ईश्वर) ऊपर निश्चय से (सृष्टाः) फैला हुआ[1] (परिपूर्ण) है (तिर्यक नु सृष्टाः) निश्चय तिरछा फैला हुआ है। (पुरुषः सर्वाः दिशः आबभूव) पुरुष सब दिशाओं में है। (यः ब्रह्मणः पुर वेद) जो ब्रह्म की पुरी को जानता है। (यस्याः पुरुष उच्यते) उसी को पुरुष कहते हैं।

**व्याख्या**

ईश्वर को सर्वव्यापक होने से पुरुष कहते हैं। शरीर से बाहर समस्त ब्रह्माण्ड और शरीर के अन्तर्गत समस्त शरीर उसकी पुरी या नगरी कही गई है। इसी नगरी के ज्ञाता जीव को पुरुष कहते हैं। भाव इसका यह हुआ कि पुरुष कहलाने का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है जो ब्रह्म के व्यापकत्व का अनुभव रखता हो। इसीलिए उपनिषदों में पुरुष का अर्थ किया गया है—"पुरु (पहले)+उष दाहे" अर्थात् जो पहले पाप को जलाकर नष्ट कर दे, वही पुरुष कहा जा सकता है। देखो (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१)। पुरु+स=बहुत से सीने वाला=पुरुषार्थ करने वाला भी पुरुष का अर्थ किया जाता है।

**यो वै तां ब्रह्मणो वेदाऽमृतेनावृतां पुरम् ।**
**तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥**

---

१. "सृष्ट" के अनेक अर्थों में "फैला हुआ" (Pour down) अर्थ भी है। देखो संस्कृत इंगलिश कोष आप्टे कृत।

अर्थ—(यः वैः अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद) जो निश्चय के साथ अमृत से परिपूर्ण ब्रह्म की पुरी को जानता है (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः प्राणं प्रजां च ददुः) उसको ब्रह्म और ब्रह्म के उत्पन्न किए हुए सूर्यादि देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं।

व्याख्या

चक्षु, उपलक्षण के तौर पर है। मतलब समस्त इन्द्रियों से है। प्राण आयु का वाचक है। प्राण (श्वास) ही पर आयु की मात्रा निर्भर होती है। प्रजा सन्तान को कहते हैं। ब्रह्म ज्ञान का फल इस मन्त्र में बतलाया गया है कि ब्रह्म ज्ञानी स्वस्थ इन्द्रियों वाला पूर्ण आयु का भोक्ता और सन्तान प्राप्ति के सुख से सुखी हुआ करता है।

**न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।**
**पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥**

अर्थ—(तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति न वै प्राणः) उसको बुढ़ापे से पहिले न आँख छोड़ती है और न प्राण (यः ब्रह्मणः पुरं वेद) जो ब्रह्म की पुरी को जानता है। (यस्याः पुरुष उच्यते) जिससे वह पुरुष कहा जाता है।

व्याख्या

आँख और प्राण के न छोड़ने का मतलब यह है कि बुढ़ापे से पहले न इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास होता है और न आयु में न्यूनता। मतलब इसका यह हुआ कि ब्रह्मज्ञानी पूर्ण आयु का भोग करता है और अन्त तक स्वस्थ रहता है।

**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।**
**तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥**

अर्थ—(अष्टचक्रा, नव द्वारा अयोध्या देवानां पूः) आठ चक्र और नौ द्वार वाली अयोध्या देवों की पुरी है, (तस्यां हिरण्ययः कोशः) उसमें प्रकाश वाला कोष है, (स्वर्गः ज्योतिषा आवृतः) जो आनन्द और प्रकाश से युक्त है।

व्याख्या

मनुष्य का शरीर ही देवों की अयोध्या पुरी है। इसमें आठ चक्र हैं।

आठ चक्र Plexus—नाड़ी गुच्छक (Ganglia)[1] शरीरस्थ मेरु दण्ड के दाहिने बाँये तथा सिर, गले, छाती आदि अनेक स्थानों पर होते हैं। ये गुच्छक परस्पर तन्तुओं (Filaments) द्वारा नथे रहते हैं और मस्तिष्क तथा मेरु विभाग से ज्ञान

---

१. A Ganglion is a mass of nervous matter including nervece l,s.

और शक्ति तन्तुओं motor and ensory nerves) द्वारा सम्बन्धित रहते हैं। इन्हीं गुच्छकों से अगणित तन्तु निकल कर शरीर के अवयवों और रुधिर की नालियों इत्यादि में जाल की तरह फैले रहते हैं। कई स्थानों पर ये तन्तु एकत्रित हो जाते हैं। उन्हीं को नाड़ी ग्रन्थि या चक्र (Plexus) कहते हैं।

ये चक्र दस कहे जाते हैं, परन्तु उनमें से मुख्य आठ हैं और उनका विवरण इस प्रकार है:—(१) मूलाधार चक्र—रीढ़ की हड्डी के नीचे गुदा के पास है। इसमें उत्तेजना प्राप्त होने से वीर्य स्थिर और मनुष्य ऊर्ध्वरेता होता है। (२) स्वाधिष्ठान चक्र—मूलाधार से ४ अंगुल ऊपर है। इसके उत्तेजित होने से प्रेम और अहिंसा के भाव जागृत होते हैं। शरीर के रोग और थकावट दूर होकर स्वस्थता लाभ होती है। (३) मणिपूरक चक्र—ठीक नाभि स्थान में है। इसमें उत्तेजना आने से शरीर संयत रहता है। (४) सूर्य चक्र—नाभि से कुछ ऊपर हृदय की धुकधुकी के ठीक पीछे मेरुदण्ड के दोनों ओर इसका स्थान है। इसका अधिकार भीतरी सभी अवयवों पर है। प्राण का खजाना यहीं रहता है। इस पर चोट लगने से मनुष्य तत्काल मर जाता है। पहलवान इसी पर हल्की चोट लगाकर प्रतिद्वन्द्वी को बलहीन कर देता है)। प्राण के लिए मस्तिष्क को भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है। यह पेट का मस्तिष्क ही समझा जाता है। (५) अनाहत चक्र—हृदय स्थान में है। हृदय के समस्त व्यापार इससे नियमित होते हैं। हृदय में बल, प्रेम और भक्ति इसमें हुई उत्तेजना के फल होते हैं। (६) विशुद्धि चक्र—कण्ठ में है। कण्ठ के मूल में जहाँ दोनों ओर की हड्डियाँ आती हैं उनके बीच में अँगुष्ठ मात्रा वाला नरम स्थान इस चक्र का स्थान है। इस पर संयम करने से वाह्य जगत् की विस्मृति और आन्तरिक कार्य का प्रारम्भ होता है। तारुण्य और उत्साह प्राप्त होता है। (७) आज्ञा चक्र—दोनों भवों के मध्य में है। इसमें उत्तेजना आने से शरीर पर प्रभुत्व, नाड़ी और नसों में स्वाधीनता आती है और यह अनुभव होने लगता है कि आत्मा की आज्ञा ही से समस्त शरीर व्यापार चल रहा है। (८) सहस्रार चक्र—तालु के स्थान के ऊपर मस्तिष्क में है और समस्त शक्तियों का केन्द्र है।

नव (९) द्वार—दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मल द्वार और एक मलमूत्र कुल नव द्वार।

इस प्रकार आठ चक्र और नव द्वार वाली अयोध्या नगरी में हृदय ही प्रकाशयुक्त कोष है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥

अर्थ—(त्रि अरे) तीन अरों से युक्त (त्रि प्रतिष्ठिते) तीन केन्द्रों में स्थिर (तस्मिन् हिरण्यये कोषे) ऐसे उस तेजस्वी कोष में (यत् आत्मन्वत् यक्षं) जो आत्मवान् यक्ष है। (तद् वै ब्रह्मविदः विदुः) उसको निश्चय ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

व्याख्या

तीन अरे प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस और तमस ही हैं। तीन केन्द्र ज्ञान, कर्म और उपासना हैं। इन्हीं तीन अरों वाले चक्र से मन चलता और ज्ञान, कर्म और उपासना नामक केन्द्र में ठहरता है। ऐसे हृदय रूप तेजयुक्त कोष में यक्ष (ईश्वर) रहता है जिसे ब्रह्मवित् जानते हैं। इसी यक्ष की चर्चा केनोपनिषद् की आख्यायिका में है।

**प्रभ्राजमानां हरिणीं यक्षसा संपरीवृताम्।**
**पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥३३॥**

अर्थ—(प्रभ्राजमानां) प्रकाश युक्त (हरिणीं) दुःख हरने वाली (यक्षसा संपरीवृतां) यक्ष से परिपूर्ण (अपराजितां) कभी पराजित न होने वाली (हिरण्ययीं पुरं) तेजपूर्ण नगरी में (ब्रह्म आविवेश) ब्रह्म सब ओर से प्रविष्ट है।

व्याख्या

मन्त्र में नगरी के पांच विशेषण दिये गये हैं जिनका भाव यह है कि जो प्राणी इस ब्रह्म की पुरी में ब्रह्म के दर्शनार्थ प्रवेश करना चाहता है उसमें उस नगरी के अनुकूल ही गुण होने चाहियें। वे पांच विशेषण ये हैः—(१) तेज, (२) दुःखों को दूर करने की योग्यता, (३) यश, (४) शक्ति सम्पन्नता, (५) ओजस्विता।

छान्दोग्योपनिषद् में एक प्रकरण आया है जिसमें इस ब्रह्म की पुरी (हृदय मन्दिर) के पाँच द्वारपाल वर्णन किये गये हैं (छान्दोग्योपनिषद् ३।१३।१-८) के द्वार-पाल पाँच प्राण हैं परन्तु जो उन द्वारों से गुजरना चाहता है उसके भीतर पाँच गुण होने चाहियें तभी वह पाँचों द्वारों में प्रविष्ट होकर मन्दिर के भीतर पहुँच सकता है। वे पाँच गुण मन्त्र में वर्णित पाँच विशेषणों के साथ निम्नांकित हैं :—

| संख्या | उपनिषद् में वर्णित गुण | वेद मन्त्र में वर्णित विशेषता |
|---|---|---|
| (१) | तेज | तेज |
| (२) | श्री | दुःखों के दूर करने की योग्यता |
| (३) | यश | यश |
| (४) | ब्रह्मवर्चस | शक्ति-सम्पन्नता |
| (५) | ओज | ओजस्विता |

दोनों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों स्थानों में एक ही प्रकार के गुणों की आवश्यकता बतलाई गई है। संख्या २ में उपनिषद् का श्री गुण ही वेद मन्त्र में आये दुःख निवृत्ति की योग्यता का कारण होने से परस्पर समान ही समझे जाने के योग्य हैं। कितनी अपूर्व शिक्षा कितने अपूर्व ढंग से दी गई है। मनुष्य के भीतर इन गुणों के होने से उसकी पहुँच अयोध्यापुरी में विराजमान अथवा केनोपनिषद् में वर्णित यक्ष तक हो जाती है।

**केन सूक्त पर एक दृष्टि**—अथर्ववेद के इस सूक्त पर निगाह डालने से प्रकट हो जाता है कि सूक्त के प्रारम्भ के मन्त्रों में शरीर के बाह्य और आन्तरिक अवयवों, मानसिक भावों, रुधिर, प्राण, चरित्र, अमरत्व, सत्व, अनृत, मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा, बाह्य जगत्, वेद (ज्ञान), वेदज्ञ, देव, ईश्वर का व्यापकत्व, मस्तिष्क और हृदय का मेल, ब्रह्म, मस्तिष्क सम्बन्धी अद्‌भुत रचना वेद और ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्ति का फल, ब्रह्म की पुरी अयोध्या में यक्ष का प्रवेश और यह कि प्राणी किस प्रकार उस नगरी में यक्ष तक पहुँच सकता है, इत्यादि विषयों का वर्णन है। यह वर्णन कहीं-कहीं तो उत्तर सहित प्रश्नों के रूप में है। उदाहरण के लिए देखो मन्त्र २२, २३ तथा २४, २५ और कहीं-कहीं क्या वल्कि अधिकतर प्रश्न के रूप में है। जो शिक्षा प्रश्नों के रूप में है वह भी असंदिग्ध रीति से मननीय है। एक बात इस अवसर पर ध्यान में रख लेनी चाहिए और वह यह है कि "केन" शब्द के अर्थ जहाँ 'किससे' और 'किसने' के आते हैं वहाँ "केन" शब्द 'ईश्वरेण' का अर्थ भी देता है। "क" के अर्थ कोषों में ब्रह्म, यम, सूर्य, आत्मा, शरीर, मन, काल, तेज सम्पत्ति, अग्नि, कामदेव, जल और हर्ष आदि के भी हैं इसलिये यदि "क" के अर्थ ईश्वर के लें तो सूक्त में जहाँ भी "क" शब्द प्रश्नार्थ में है सभी जगह ईश्वरार्थ में होकर मन्त्र प्रश्न रूप में नहीं किन्तु साधारण वर्णन रूप में होकर इस केन सूक्त का नाम ब्रह्म सूक्त हो जायेगा। वेद में आये 'कस्मै देवाय हविषा विधेम" के अर्थ जहाँ यह होते हैं कि "किस देव के लिए हवि अर्पित की जावें" वहाँ यह भी होते हैं कि "ईश्वर के लिए हवि अर्पित की जाय या यज्ञ किया जाय" सूक्तान्तर्गत शिक्षायें बड़े महत्व की हैं। सूक्त के अन्तिम मन्त्रों तथा इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों में वर्णित शिक्षाओं के आधार पर ही वास्तव में उपनिषदों का भवन तैयार हुआ है। परिणाम की दृष्टि से इस केन सूक्त और केनोपनिषद् दोनों को एक ही कहा जा सकता है। दोनों महत्व-पूर्ण शिक्षाओं से पूर्ण और दोनों ही मनन करने के योग्य हैं।

—: ० :—

।। ओ३म् ।।

# कठोपनिषद्

## प्रथमा वल्ली

**उशन् ह व वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।**
**तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ।।१।।**
**त ँ ह कुमार ँ सन्तं दक्षिणासु ।**
**नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ।।२।।**
**पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।**
**अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ।**

अर्थ—(ह, वै) कहते हैं (वाजश्रवसः) वाजश्रवा के पुत्र ने (उशन्) फल की कामना से (सर्ववेदसम्) सब कुछ (ददौ) दान किया (तस्य) उसका (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता, नाम, पुत्रः, आस) नचिकेता नाम वाला पुत्र था ।।१।।

(कुमारम्, सन्तम्, ह,) कुमार होने पर भी (तं) उसको (दक्षिणासु) दान किये हुए पदार्थों के (नीयमानासु) विभाग करते समय (श्रद्धा) आस्तिक बुद्धि (आविवेश) उन्नत हुई, (सः, अमन्यत) वह सोचने लगा ।।२।।

(पीतोनकाः) जो (गायें) जल पी चुकी है, (जग्धतृणाः) तृण भक्षण कर चुकी हैं, (दुग्धदोहाः) जिनका दूध दुहा जा चुका है, (निरिन्द्रियाः) बच्चा पैदा करने में असमर्थ हो चुकी हैं, (ताः) उन्हें (ददत्) जो दान करता है (सः) वह (अनन्दाः नाम ते लोकाः) आनन्द रहित जो लोक हैं (तान्) उनको (गच्छति) जाता है ।।३।।

**व्याख्या**—यह उपनिषद् एक आख्यायिका के रूप में है—वाजश्रवस का पुत्र नचिकेता था । उसने यम नामक एक विद्वान् व्यक्ति से शिक्षा प्राप्त की, जिस (शिक्षा) का नाम कठोपनिषद् है । कोई-कोई व्यक्ति वाजश्रवा का अर्थ प्राण[1] करके

---

१. निघण्टु अ० २ ख० ७,१० में वाज अन्न और श्रवः धन का नाम बतलाया गया है । स्पष्ट है कि अन्नवान् और धनवान् जो गृहस्थ हों उनका नाम वाजश्रवा उचित रीति से हो सकता है । जो लोग इसका अर्थ प्राण करते हैं वे कहते हैं कि अन्न (अन्नमयकोष) ही जिसका धन है वह प्राण है इसलिए वाजश्रवा प्राण वाचक हुआ ।

नचिकेता जीवात्मा[1] को ठहराते हैं और इस प्रकार जीवात्मा को प्राण का पुत्र बतला-कर कहते हैं कि उसने यम[2] (मृत्यु) से शिक्षा उपलब्ध की थी परन्तु यह अलंकार बहुत उपयुक्त नहीं है। इसलिये हमने उपनिषद् को एक सरल आख्यायिका समझते हुए ही उसकी टीका की है। जब वाजश्रवा ने सर्वमेध यज्ञ किया अर्थात् जो कुछ उसके पास था सब दान करने लगा, तब स्पष्ट है कि सब चीजें अच्छी नहीं हो सकती थीं इसलिए उनमें कुछ चीजें निकम्मी भी थीं जैसे बिना दूध देने या ना दे सकने वाली गायें। जब वाजश्रवा ने इन (निकम्मी गायों) का भी दान किया तब उसका पुत्र नचिकेता आस्तिक बुद्धि से प्रेरित होकर सोचने लगा कि जो दानी ऐसी (निकम्मी) वस्तुओं का दान करते हैं वे आनन्दरहित लोकों को प्राप्त होते हैं। भाव इसका यह है कि ऐसा दान, दान नहीं, किन्तु कुदान है जिससे उसका कुछ उपकार नहीं हो सकता अपितु उस पर यह भार रूप होता है।

**स होवाच पितरं तत् कस्मै माँ दास्यसीति।**
**द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥**

अर्थ—(सः, ह) वह नचिकेता (पितरम्) पिता से (उवाच) बोला (तत्) हे तात! (माम्) मुझको (कस्मै) किसे (दास्यसि) देंगे? (द्वितीयम्) दुबारा (तृतीयम्) तिबारा कहने पर पिता ने क्रुद्ध होकर (तम्) उससे (उवाच) कहा कि (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (त्वा) तुझे (ददामि इति) देता हूं ॥४॥

**व्याख्या**—नचिकेता ने सब कुछ देते हुए देखकर अपने सम्बन्ध में पूछा कि मैं किसे दिया जाऊँगा? पिता के उत्तर न देने पर जब उसने दुबारा, तिबारा अपना प्रश्न दोहराया तो वाजश्रवा ने अप्रसन्न होकर कहा कि तुझे मौत के हवाले करता हूँ। उत्तर के दो अर्थ हो सकते थे। एक तो केवल अप्रसन्नता, मौत के हवाले करना, इन शब्दों का अनिष्ट और अप्रसन्नता सूचक होना तो स्पष्ट ही है। उत्तर का दूसरा भाव यह था कि मृत्यु नाम के किसी गृहस्थ विद्वान् के लिए नचिकेता को देना। नचिकेता पिता की अप्रसन्नता समझते हुए भी दूसरे अर्थ का लेना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझकर घर से चल दिया।

**बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।**
**किँस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥**

---

१. "न चिकेतते विचेष्टत इति नचिकेताः।" अर्थात् जो स्वभाव ही से पुण्य-पाप (सुख-दुःख) के प्रपंच से पृथक् हो वह नचिकेता है। नचिकेता जीव होने से प्राण का पुत्र है, यह कल्पना असंगत है। जीव नित्य और प्राण अनित्य होने से पुत्र पिता से पहले हो जाता है।

२. यम के कई नाम उपनिषद् में लिए गये हैं। उसे मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत आदि कहा गया है।

**अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।**
**सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥**

अर्थ—(बहूनाम्) बहुतों में तो (प्रथमः, एमि) मैं श्रेष्ठ हूं और (बहूनाम्, मध्यम, एमि) और बहुतों में मध्यम हूं । (यमस्य) मृत्यु का (किं स्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य काम है, (यत्) जो वह (मया) मुझ से (अद्य) आज (करिष्यति) करावेगा ॥५॥

(यथा) जैसे (पूर्वे) पहले (हुआ उसे) (अनुपश्य) देख (तथा) वैसा ही (परे) आगे हुआ (प्रतिपश्य) देख कि (मर्त्यः) प्राणी (सस्यम् इव) धान ही के सदृश (पच्यते) मरता है और (सस्यम् इव) और धान ही के सदृश (पुनः) फिर (अजायते) उत्पन्न होता है ॥६॥

व्याख्या—मृत्यु के घर जाते हुए वह (नचिकेता) सोचने लगा कि मैं बहुतों (विद्यार्थियों) में तो श्रेष्ठ हूं और बहुतों में मध्य, नहीं मालूम यम (आचार्य्य) का कौन-सा काम है जो मुझे करना पड़ेगा । फिर वह सोचने लगा, कि संसार में चाहे बीते काल पर दृष्टि डालें और चाहे आने वाले समय को देखें, यह बात तो साफ तौर से मालूम होने लगती है कि मनुष्य धान आदि ओषधियों के सदृश नष्ट हो जाता है और उसी की तरह फिर पैदा हो जाता है ॥६॥

नोट—(१) मनुष्य की इस मरने-जीने की अवस्था का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही उसने यम से तीसरा वर मांगा था ।

**वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।**
**तस्यैताᳪं शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥**
**आशाः प्रतीक्षे सङ्गतᳪं सूनृता-**
**ञ्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूᳪंश्च सर्वान् ।**
**एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो,**
**यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥**

अर्थ—(वैवस्वत) हे विवस्वान् के पुत्र यम (गृहान्) आपके घरों में (वैश्वानरः) एक तेजस्वी (ब्राह्मण) विद्वान् (अतिथिः) अतिथि (प्रविशति) प्रविष्ट हुआ है (तस्य) ऐसे अतिथि की (सद्गृहस्थ) (एताम्) इस (शान्तिम्) प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) करते हैं इसलिए (उदकम्, हर) जल को (आतिथ्य के लिए) लीजिये ॥७॥

(यस्य पुरुषस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित अतिथि (अनश्नन्) भूखा (वसति) रहता है (तस्य) उस (अल्पमेधसः) अल्पबुद्धि की (आशाः) ज्ञात वस्तु की कामना, (प्रतीक्षे) अज्ञात वस्तु की चाहना, (सङ्गतम्) सत्संग के फल, (सूनृताम्) मधुरभाषिता, (इष्ट) यज्ञादि श्रौतकर्म के फल (आपूर्ते)

तालाब आदि बनाने रूप स्मार्तकर्म के फल (पुत्रपशून्) पुत्र और पशु (एतत् सर्वान्) ये सब (वृङ्क्ते) जाते रहते हैं ।।८।।

**व्याख्या**—नचिकेता वैवस्वत (यम) के घर पहुँचा, परन्तु किसी कारण वश वह उस (नचिकेता) का आतिथ्य न कर सका। जब कि नचिकेता तीन दिन उसके घर बिना किसी पूछताछ के पड़ा रहा तो किसी धर्मज्ञ ने यम को चेतावनी दी कि नचिकेता का आतिथ्य[1] करे क्योंकि जिस गृहस्थ के घर में विद्वान् अतिथि बिना आतिथ्य के रहता है उसके पुत्रादि सभी नष्ट हो जाते हैं। उस धर्मज्ञ ने यह बात केवल डराने के लिए अत्युक्ति से नहीं कही थी किन्तु इसमें कुछ तथ्य है। जब कोई व्यक्ति किसी का आतिथ्य नहीं करना चाहता तो उसकी इच्छा होती है कि उसे घर से रुखसत करे और इसके लिए उसे कुछ रुखाई से बात करनी पड़ती है। रुखाई से बात करने के फलस्वरूप में मधुरभाषिता जाती है। मधुरभाषिता के न रहने से कोई विद्वान् न उसके पास जाता है, न उसे अपने पास आने देता है इससे सत्संग भी गया और इस सत्संग के अभाव से श्रौत और स्मार्त कर्म भी छूटे, क्योंकि बिना विद्वानों के सहयोग के ये काम अकेले करने के नहीं है। विद्वानों के असहयोग से पुत्रेष्टि आदि करके पुत्र भी पैदा नहीं कर सकता और यदि पैदा हुआ भी तो वह मूर्ख ही रहेगा जो मरने से वदतर है, जैसा कि नीति में कहा गया है:—

> अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।
> सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ।।
>
> (पञ्चतन्त्र)

अर्थात् पुत्र का न पैदा होना, पैदा होकर मर जाना और मूर्ख रहना—इन तीनों में से पहले दोनों श्रेष्ठ हैं परन्तु अन्तिम (मूर्ख रहना) श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि पहले दो से तो मनुष्य को एक ही बार दुःखी होना पड़ता है परन्तु अन्त की बात से तो उसे पग पग पर दुःख भोगना पड़ता है। अस्तु, सन्तान के मूर्ख रहने से पशु आदि धन का संग्रह भी सम्भव नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त बातों के अभाव से कोई गृहस्थ न किसी वस्तु की आशा कर सकता है और न किसी की प्रतीक्षा।

> **तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीगृहे मे-**
> **अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।**
> **नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे अस्तु,**
> **तस्मात् प्रति त्रीन् वारन् वृणीष्व ।।९।।**

---

१. नोट—प्राचीन काल में आतिथ्य के लिए तीन काम करने पड़ते थे—(१) अर्घ्यपाद्य अर्थात् सत्कारपूर्वक जल से पांव आदि धुलाना, (२) आसन अर्थात् बैठने को उचित वस्तु देना, (३) मधुपर्क अर्थात् अल्पाहार (नाश्ते) के लिए कुछ भोजन देना। इसी के लिए उस धर्मज्ञ ने जल लाने के लिए यम को परामर्श दिया था।

अर्थ—(ब्रह्मन्) हे विद्वान् (अतिथिः) अतिथि (नमस्यः) आप सत्कार करने योग्य है (ते) आपके लिए (नमः) प्रमाण (अस्तु) हो (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (अस्तु) हो ब्रह्मन्) हे ब्रह्मवित् ! (यत्) जो (मे, गृहे) मेरे घर में, (तिस्रः,रात्रीः) तीन रात (अनश्नन्) (आप) भूखे (अवात्सीः) रहे हैं (तस्मात्) इसलिए (प्रति) प्रति रात्रि (एक के हिसाब से) (त्रीन् वारान्) तीन वरों को (वृणीष्व) स्वीकार करें ॥९॥

व्याख्या—उस धर्मज्ञ पुरुष की चेतावनी से यम सावधान होकर नचिकेता के पास आया और अपने कल्याणार्थ, आतिथ्य न कर सकने और नचिकेता के तीन रात भूखे रहने के प्रायश्चित रूप में तीन वर देने का वचन दिया।

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत
एतत् त्रयाणाँ प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वाँ ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

अर्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु ! (गौतमः) मेरा पिता गौतम (मा, अभि) मेरे प्रति (शान्तसङ्कल्पः) अच्छे विचार वाला, (सुमनाः) प्रसन्नमन (वीतमन्युः) क्रोधरहित (यथा) जैसा पहले था, (स्यात्) होवे (त्वत् प्रसृष्टम्) आपके भेजे हुए (मा अभि) मुझे देखकर (प्रतीतः सन्) मुझ पर विश्वास करता हुआ (वदेत्) बात चीत करे (एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन में से (प्रथमम्) पहला (वरम्) वर (वृण) मांगता हूं ॥१०॥

(औद्दालकिः) उद्दालकवशी (आरुणिः) अरुण का पुत्र तेरा पिता (गौतम) (यथा) जैसा (पुरस्तात्) पहले था (मत्प्रसृष्टः) मेरे भेजे हुए तुझ पर (प्रतीतः) विश्वास करने वाला (भविता) होगा (वीतमन्युः) क्रोध रहित होकर (रात्रीः) रात्रियों में (सुखम्) सुख से (शयिता) सोवेगा (त्वाम्) तुझको (मृत्युमुखात्) मौत के मुँह से (प्रमुक्तम्) छुटा हुआ (ददृशिवान्) देखेगा ॥११॥

व्याख्या—नचिकेता से उसका पिता अप्रसन्न हो ही चुका था। चाहे पिता का क्रोध अनुचित ही था, तब भी उस काल की पितृ भक्ति प्रशंसनीय थी कि नचिकेता ने सबसे पहला वर अपने पिता की प्रसन्नता उपलब्ध करने के सम्बन्ध में

ही माँगा[1]। वर्तमान उच्छृङ्खलता के काल में, दुःख है, पुत्र और पुत्रियों को इस प्रकार की मातृ और पितृ भक्ति की शिक्षा नहीं दी जाती जिसके लिए उर्दू के कवि ने उचित ही कहा है:—

हम ऐसी कुल किताबें, काबिले जब्ती समझते हैं।
जिन्हें पढ़ करके लड़के बाप को खब्ती समझते हैं।।

(अकबर इलाहाबादी)

अस्तु ! यम ने यह वर कैसे दे दिया कि उसका पिता उससे प्रसन्न हो जायेगा। इसका उत्तर यह है कि यम को अपनी शिक्षा पद्धति पर विश्वास था। वह जानता था कि जब वे नचिकेता को मातृ पितृभक्त और ब्रह्मज्ञानी बना देगा तब ऐसे पुत्र से कोई पिता कैसे अप्रसन्न रह सकता है। सच तो यह है कि जब वाजश्रवा ने सुना होगा कि उसके पुत्र ने, सबसे पहला यत्न उसको प्रसन्न करने के लिए ही किया, उसका क्रोध तो इतनी ही बात से पुत्र की पितृ-भक्ति देखकर शान्त हो गया होगा।

**स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति,**
**न तत्र त्वं न जरया बिभेति।**
**उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे,**
**शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१२।।**

---

१. पुत्र से इस प्रकार की भावना की आशा करके पुत्र शब्द उसके लिए बनाया गया था। पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत में कई प्रकार से की जाती है परन्तु भाव सबका एकसा है:—

(क) पुरु त्रायते, निपर्णाद्वा पुत् नरकं तस्मात्त्रायत इति वा। अर्थात् बहुत बचाता है दुःखों से (जो वह पुत्र है) अथवा (निरुक्त २।११) पुत नाम नरक का है उससे जो बचाता है वह पुत्र है।

(ख) पुनाति त्रायते च स पुत्रः।
अर्थात् जो पवित्र करता है और रक्षा करता है वह पुत्र है।

(ग) मनुस्मृति ९। १३५ में लिखा है:—

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।।

'अर्थात् नरक से जो पिता को बचाता है इसलिए स्वयं ब्रह्मा ने उसका नाम पुत्र रखा है।

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो,
प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त,
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥
प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध,
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां,
विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै,
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥
तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा,
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः,
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥
त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं,
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यु ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा,
निचाय्येमाँशान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा,
य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य,
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

अर्थ—(स्वर्गेलोके) स्वर्ग लोक में (किञ्चन) कुछ भी (भयम्) भय (न, अस्ति) नहीं है (न, तत्र) न वहां (त्वम्) तू (मृत्यु) है और (न) न कोई (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) डरता है (अशनाया) भूख (पिपासे) और प्यास (उभे) दोनों को (तीर्त्वा) तैरकर (शोकातिगः) शोक से रहित (मनुष्य) (स्वर्गलोके) स्वर्ग लोक में (मोदते) प्रसन्न रहता है ॥१२॥

(मृत्यो) हे मृत्यु ! (सः, त्वम्) सो तू (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधन (अग्निम्) अग्नि को (अध्येषि) जानता है (तम्) उसे (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखने वाले (मह्यम्) मेरे लिए (प्रब्रूहि) वर्णन कर (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग प्राप्त पुरुष (अमृतत्वम्) अमृत्व

को (भजन्ते) सेवा करते है (एतद्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) माँगता हूँ ।।१३।।

(नचिकेत:) हे नचिकेता ! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग प्राप्ति के साधन (अग्निम्) अग्नि को (प्रजानन्) जानता हुआ (ते) तेरे लिए (तत्) उसको (प्रब्रवीमि) कहता हूँ (मे, निबोध) मेरे वचन को सुन और जान (अथ) और (त्वम्) तू (एनम्) इस (अग्नि) को (अनन्त) विविध (लोकाप्तिम्) लोकों (योनियों) को प्राप्त कराने वाला (प्रतिष्ठाम्) जगत की स्थिति का हेतु (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितम्) स्थित (विद्धि) जान ।।१४।।

(तस्मै) नचिकेता के लिए (लोकादिम्) सृष्टि के भी गया और आदि में उत्पन्न (तम्, अग्निम्) उस अग्नि को (उवाच) बतलाया (या:) जो (वा) या (यावती:) जितनी (वा यथा) या जिस प्रकार से (इष्टका:) ईंटें चिननी चाहियें (च) और (स) उस नचिकेता ने (अपि) भी (यथा) जिस प्रकार मृत्यु ने (उक्तम्) बतलाया या (तत्) उसको (प्रति अवदत्) कहकर सुनाया (अथ) तब (अस्य) इस (नचिकेता) के ऊपर (तुष्ट: सन्) प्रसन्न होता हुआ (पुन: एव) फिर भी मृत्यु (आह) बोला ।।१५।।

(महात्मा) मृत्यु (प्रीयमाण:) प्रसन्न होकर (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) बोला (भूय:) और भी (इह) इस (दूसरे वर के प्रसंग) में (तव) तेरे लिए (अद्य) अब (वरम्) वर (ददामि) देता हूँ (अयम्) यह (अग्नि:) अग्नि (तव) तेरे (एव) ही (नाम्ना) नाम से (भविता) प्रसिद्ध होगा (च) और (इमाम्) तू इस (अनेक रूपाम्) अनेक रूप वाली (सृङ्काम्) माला को (गृहाण) ग्रहण कर ।।१६।।

(त्रिणाचिकेत:) तीन बार (जिस अग्नि का उपदेश नचिकेता को किया गया और जो उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ) उस नाचिकेतन अग्नि का चयन करने वाला (त्रिभि:) तीन से (सन्धिम्) मेल को (एत्य) प्राप्त होकर (त्रिकर्मकृत्) तीन कर्म करने वाला (जन्म मृत्यु) जन्म और मरण के (तरति) पार हो जाता है (ब्रह्मयज्ञम्) वेद के उत्पन्न करने वाले (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (देवम्) ईश्वर को (विदित्वा) जान (निचाय्य) और निश्चय करके (अत्यन्तम्) अत्यन्त (शान्तिम्) शान्ति को (एति) प्राप्त होता है ।।१७।।

(य:) जो (विद्वान्) विद्वान् (त्रिणाचिकेत:) तीन बार अग्नि का चयन करने वाला (एतत्) इस (त्रयम्) त्रित्व को (विदित्वा) जानकर (एवम्) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (चिनुते) चयन करता है (स:) वह (मृत्युपाशान्) मृत्यु की बेड़ियों को (पुरत:) आगे (प्रणोद्य) काटकर (शोकातिग:) शोक से रहित होकर (स्वर्गलोके) स्वर्ग लोक में (मोदते) आनन्द करता है ।।१८।।

**व्याख्या**—नचिकेता ने स्वर्ग के साधन रूप अग्नि को दूसरे वर से जानने की इच्छा प्रकट की और यम ने उसको उस अग्नि का यथोचित उपदेश किया। वह स्वर्ग क्या था और उसकी प्राप्ति का साधन रूप वह अग्नि क्या थी ? सकामता के साथ यज्ञादि करने से जिस स्वर्ग की प्राप्ति का विधान ब्राह्मण तथा उपनिषद ग्रन्थों में किया गया स्पष्ट है कि उस स्वर्ग के सम्बन्ध में न तो नचिकेता ने प्रश्न किया था और न यमाचार्य्य ने उस स्वर्ग की प्राप्ति के साधन ही नचिकेता को बतलाये थे। नचिकेता के प्रश्न में अभिलषित स्वर्ग के विशेषण दिये हैं वे ये हैं कि वहाँ जरा (बुढ़ापा आदि) और मृत्यु नहीं है और न भूख प्यास का वहाँ कष्ट भोगना पड़ता है। वहाँ निर्भीकता के साथ सुखोपभोग करते हुए स्वर्गवासी अमरता का सेवन करते हैं। यम ने स्वर्ग की साधनभूत जिस अग्नि का विधान किया है, उसको उसने अनेक लोकों (योनियों) को प्राप्त कराने वाला, जगत् की स्थिति का कारण और हृदयाकाश में स्थित बतलाया है। ये प्रश्नोत्तर स्पष्ट रीति से प्रकट करते है कि नचिकेता ने ब्रह्मलोक (मोक्ष) प्राप्ति का साधन पूछा था, और यम ने ईश्वर प्राप्ति को साधन उसको बतलाया है। वह स्वर्ग जो सकाम कर्म यज्ञादि से प्राप्त हुआ करता है, वह मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ (देवयोनि) में पैदा होने से बढ़कर और कुछ नहीं, अवश्य वह देवयोनि दुःखों से रहित और उत्कृष्टतम साँसारिक सुखों से पूर्ण होती है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "सकामजन्म स्वर्ग" में मनुष्य स्थूल शरीर के साथ उत्पन्न हुआ करता हैः—

"स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिल्लोके सम्भवति।।"

(शतपथ ब्राह्मण ४।६।१।१।)

साफ जाहिर है कि स्थूल शरीर के साथ उत्पन्न होकर जरा मृत्यु भूख प्यासादि से छुटकारा पा लेना सम्भव नहीं है। जो स्वर्ग प्रश्नोत्तर में पूछा और बतलाया गया है उसकी प्राप्ति का मुख्य साधन ईश्वर प्राप्ति ही है। हाँ, गौण साधन उसकी प्राप्ति का भौतिक अग्नि भी हो सकता है और इसलिए यम ने ईंटों से यज्ञकुण्ड बनाने की पूर्ण विधि भी, ईश्वर प्राप्ति के साधन=निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्ति के अतिरिक्त, नचिकेता को बतलाई थी। यज्ञ मोक्ष की प्राप्ति का गौण साधन अवश्य हो सकता है और वह इस प्रकार कि उसे सकामता दूर करके पूर्ण निष्कामता के साथ किया जाय। निष्काम कर्म के मोक्ष के साधन होने में किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। उपनिषद के अन्त में कहे हुए शब्द कि मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो, और शोक रहित होकर प्राणी स्वर्ग लोक में आनन्द प्राप्त करता है" स्पष्ट रीति से स्वर्गलोक का अभिप्राय ब्रह्मलोक प्रकट करते हैं।

**एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो**
**यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।**

एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥
येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं,
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥
देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा,
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व,
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥
देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल,
त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो,
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥
शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व,
बहून् पशून हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व,
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं,
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि,
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके,
सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या,
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व,
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

अर्थ—(नचिकेतः) हे नचिकेता (एषः) यह अग्नि (स्वर्ग्यः) स्वर्ग का साधन (ते) तेरे लिए कहा गया (यम्) जिसको (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (अवृणीथाः) तूने मांगा था (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (जनासः) मनुष्य (तव, एव) तेरे ही नाम से (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (तृतीयम्) तीसरा (वरं) वर (वृणीष्व) मांग ॥१९॥

(मनुष्ये) मनुष्य के (प्रेते) मरने पर (अयम्) यह आत्मा (अस्ति) बाकी रहता है (इति) ऐसा (एके) कुछ लोग (च) और (न) नहीं (अस्ति) रहता (इति) ऐसा भी (एके) कुछ लोग मानते हैं (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) सन्देह है (त्वया) आपसे (अनुशिष्टः) उपदेश किया हुआ (अहम्) मैं (एतत्) इसको विद्याम्) जानूँ (वराणाम्) वरों में (एषः) यह (तृतीयः) तीसरा (वरः) वर है ।।२०।।

(पुरा) पहले (अत्र) इसमें (देवैः) विद्वानों ने (अपि) भी (विचिकित्सितम्) सन्देह किया था (हि) निश्चय (एषः) यह (धर्मः) विषय (अणुः) सूक्ष्म होने से (सुविज्ञेयम्, न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है [नचिकेतः] इसलिए हे नचिकेता [अन्यम्] कोई और (वरम्) वर (वृणीष्व) माँग (मा) मुझको (मा) मत (उपरोत्सीः) ऋणी के तुल्य दबा (एनम्) इस वर को (अतिसृज) छोड़ दे ।।२१।।

[मृत्यो] हे मृत्यु ! [अत्र] इस विषय में [देवैः] देवों ने [अपि] भी [विचिकित्सितम्] सन्देह किया था [त्वम् च किल] और तू भी [यत्] जो [सुविज्ञेयं न] सुगमता से जानने के योग्य नहीं है ऐसा [आत्थं] कहता है परन्तु [अस्य] इस विषय का [वक्ता] उपदेश करने वाला [त्वा दृग] तेरे तुल्य [अन्यः] और [न लभ्यः] नहीं मिल सकता [च] और [एतस्य] इस वर के [तुल्यः] सदृश [अन्यः] और [कश्चित्] कोई [वरः न] वर नहीं है ।।२२।।

(शतायुषः) १०० वर्ष जीने वाले (पुत्र-पौत्रात्) पुत्र और पौत्रों को (वृणीष्व) माँग (बहून्) बहुत (पशून्) पशु, (अश्वान्) घोड़े, (हस्ति) हाथी, (हिरण्यम्) सुवर्ण, (भूमेः) पृथ्वी के (महत्) बड़े (आयतनम्) माण्डलिक राज्य को (वृणीष्व) माँग (स्वयं च) और तू स्वयं (यावत्) जितने (शरदः) वर्ष (इच्छसि) इच्छा करता है (जीव) जीवित रह ।।२३।।

(यदि) जो (एतत्) इस (वरम्) वर के (तुल्यम्) तुल्य तू (मन्यसे) मानता है तो (वित्तम्) धन और (चिरजीविका को) (वृणीष्व) माँग । नचिकेतः) हे नचिकेता ! (त्वम्) तू (महाभूमौ) इस महान् पृथ्वी पर (एधि) बढ़ने वाला हो (त्वा) तुझको (कामानाम्) कामनाओं का (कामभाजम्) भोग करने वाला (करोमि) करता हूं ।।२४।।

(मर्त्यलोके) संसार में (ये, ये कामाः) जो जो कामनायें (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं (सर्वान्) उन सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) यथेष्ट (प्रार्थयस्व) मांग (इमाः) ये (सरथाः) रथों, सहित (सतूर्याः) बाजों के साथ (रामाः) रमणीय स्त्रियाँ हैं (आभिः) इन (मत्प्रत्ताभि,) मेरी दी हुई (स्त्रियों) से (परिचारयस्व) अपनी सेवा कर । (हि) निश्चय (ईदृशाः) ऐसी (मनुष्यैः) साधारण मनुष्यों से (न लम्भनीयाः) प्राप्त होने योग्य नहीं हैं । हे नचिकेता ! (मरणम्) मौत को (मा) मत (अनु प्राक्षीः) पूछ ।।२५।।

**व्याख्या**—नचिकेता का तीसरा प्रश्न आत्मा की अमरता से सम्बन्धित था। आस्तिक और नास्तिक संसार में सदा से रहते चले आये हैं। आस्तिक का सिद्धान्त है कि जीवात्मा अमर है और शरीर नष्ट होने के साथ वह नष्ट नहीं होता किन्तु आवा गमन के द्वारा एक को छोड़कर दूसरी योनियों में आया-जाया करता है। परन्तु नास्तिकवाद यह है कि शरीर के मेल का परिणाम आत्मोत्पत्ति है और इसीलिए शरीर के नष्ट होने के साथ वह भी नष्ट हो जाता है। नचिकेता एक नवयुवक ब्रह्मचारी था। इस प्रकार का सन्देह उसे हो जाना स्वाभाविक था और उसी सन्देह की निवृत्ति के लिए उसने यम से यह तीसरा प्रश्न किया था। यम ने पहले वरों की तरह इसका उत्तर न देकर क्यों नचिकेता को अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर इस प्रश्न का उत्तर देने से अपने को बचाना चाहा इसका कारण यह हैं कि प्राचीन पद्धति यह थी कि आत्म-विद्या सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिये जाते थे जिनको आचार्य इस विद्या के जानने का पात्र समझा करते थे। नचिकेता इस विद्या के प्राप्त करने का अधिकारी है या नहीं, इसी के जानने के लिए, उसकी परीक्षा लेने के उद्देश्य ही से, इसी प्रकार के प्रलोभन उसे दिये गये थे और जब वह प्रलोभनों में न आकर परीक्षोत्तीर्ण हुआ तो यम ने उसे अपेक्षित शिक्षा दी। यम ने जो प्रलोभन नचिकेता को दिये थे उनमें उसने सौ वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्रों के देने की बात कही तथा मांडलिक राज्य देने का प्रलोभन भी उसे दिया था। यम के लिए किस प्रकार यह सम्भव था कि वह इन दिये गये प्रलोभनों की पूर्ति करता, यह सन्देह है जो उपनिषद के पढ़ने वालों के हृदयों में प्रायः उठा करता है। इसका समाधान यह है:—(१) योग दर्शन में कहा गया हैं कि जो मनुष्य सत्य की सिद्धि कर लेता है उसकी वाणी में अमोघता आ जाती है अर्थात् ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है वह जो कुछ भी कह देता है वह सत्य हो जाता है[1] सम्भव कि यम ऐसी ही सिद्धि प्राप्त योगी हो। दूसरी बात मांडलिक राज्य देने के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि संभव है जनक और अजात शत्रु आदि की तरह आत्मज्ञानी होने के सिवाय यम समृद्धिशाली भी हो और ऐसी हालत में उसके लिए यह सर्वथा सम्भव था कि वह नचिकेता को अपने राज्य का कोई भाग दे डालता, यदि नचिकेता प्रलोभन में आ जाता। एक बात और भी इस सम्बन्ध में कही जाती है और वह यह है कि यम ने दूसरे वर 'ईश्वर-प्राप्ति' के सम्बन्ध में जो ब्रह्मविद्या का गहनतम प्रश्न है, नचिकेता को 'ननु-नच' किये बिना ही उसका उत्तर दे दिया परन्तु जीवात्मा के वर्णन करने में इस प्रकार की परीक्षा लेना क्यों आवश्यक समझा इसका उत्तर यह है कि यम को दूसरे वर के सम्बन्ध में नचिकेता को स्थूल विवरण

---

१. योगदर्शन २।३६ और इसी सूत्र का व्यास भाष्य देखना चाहिए।

दे देने के सिवाय कुछ सूक्ष्म रहस्य उद्‌घाटित नहीं करने थे इसलिए कि वह उपनिषद का मुख्य प्रश्न नहीं था परन्तु तीसरा प्रश्न उपनिषद का मुख्य प्रश्न है और इसमें यमको ब्रह्मविद्या का हृदय खोलकर नचिकेता के सम्मुख रखना था, इसलिए ऐसा करने से पूर्व उसने नचिकेता की परीक्षा ले लेनी आवश्यक समझी और इसीलिए उसने उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिये।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणाँ जरयन्ति तेजः
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।।२६।।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ।।२७।।

अर्थ—(अन्तक) हे मृत्यु ! (यद्) यह (श्वोभावाः) कल ही कल, (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) समस्त इन्द्रियों को (एतत्) इस (तेजः) तेज का (जरयन्ति) नाश कर देती हैं (सर्वम्) सब (अपि) भी (जीवितम्) जीवन (अल्पज्ञ एव) थोड़ा ही है (इसलिए मनुष्य) (तव, एव) तेरे ही (मृत्यु के ही (वाहाः) वाहन रहें और (नृत्यु गीते) नाचना-गाना भी (तव) तेरा ही रहा ।।२६।।

(मनुष्यः) मनुष्य (वित्तेन) धन से (न) नहीं (तर्पणीयः) तृप्त होता (चेत्) जो (त्वा) तुझको (अद्राक्ष्म) हमने देखा तो (वित्तम् धन को (लप्स्यामहे) प्राप्त होंगे। (यावत्) जब तक (त्वम्) तू (ईशिष्यसि) चाहेगा (जीविष्यामः) जावेंगे। इसलिए (मे) मुझको (वरः) वर (तु) तो (सः एव) वह ही (वरणीयः) माँगना है ।।२७।।

**व्याख्या**—नचिकेता यम के दिये हुए प्रलोभनों में नहीं आया, उसने साफ यम से कह दिया कि जिस वस्तु धनादि से मनुष्य की कभी तृप्ति ही नहीं होनी उसे तुझसे माँग कर मैं क्या करूँगा। इसके सिवाय मनुष्य यदि पूर्ण आयु को भी प्राप्त कर लेवे तब भी तो वह केवल १०० वर्ष का समय, आत्मज्ञान प्राप्ति के फल की अपेक्षा बहुत थोड़ा है और फिर उस आयु के समाप्त होने पर मनुष्यों को मौत के फन्दे में फंसना पड़ता है इसलिए क्यों न वह ज्ञान प्राप्त किया जावे जिससे अमरता का जीवन प्राप्त हो सके और वह (नचिकेता) मौत के फंदे से भी छूट सके। मनुस्मृति २-९४ में लिखा है—

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।**
**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ।**

महाभारत में भी (देखो अ० ७५-१६) यह श्लोक आया है राजा ययाति शुक्राचार्य्य के शाप से कहा जाता है कि, बूढ़ा हो गया परन्तु फिर शुक्र की कृपा से उसका बुढ़ापा जवानी में बदल गया और उस (ययाति) ने प्रसिद्ध कथानुसार बहुत वर्षों तक इस नई जवानी का उपभोग किया । अन्त में उसने उपर्युक्त वाक्य कह कर प्रकट कर दिया कि 'मनुष्य की कामनायें भोग करने से तृप्त नहीं होतीं किन्तु जैसे अग्नि की ज्वाला घृत डालने से बढ़ती है इसी प्रकार कामनाएँ भोग करने से और भी अधिक बढ़ जाती हैं ।" इसलिए नचिकेता ने यम के प्रस्तावित भोगमय जीवन को पसन्द नहीं किया ।

**अजीर्यताममृतानामुपेत्य**
**जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् :**
**अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा-**
**नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥**
**यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो,**
**यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।**
**योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो**
**नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥**

अर्थ—(अजीर्यताम्) बुढ़ापे से जीर्ण न होने वाले (अमृतानाम्) मुक्त पुरुषों को (उपेत्य) प्राप्त होकर (क्वधःस्थः) पृथ्वी के अधोभाग में स्थित (मर्त्यः) मनुष्य (जीर्यन्) शरीर के नाश का अनुभव करता हुआ । (वर्ण) सुन्दरवर्ण (रति) और स्त्री प्रसंग से हुए प्रमोदान्) सुखों का (अभिध्यायन्) विचार करता हुआ (कः) कौन प्रजानन्) जानता हुआ (अति) बड़े (दीर्घे) लम्बे (जीविते) जीवन में (रमेत) रमण करे ॥२८॥

(मृत्यो) हे मृत्यु ! (यस्मिन्) जिस (विषय) में (इदम्) यह (कि मरने के बाद आत्मा रहता या नहीं) (विचिकित्सन्ति) सन्देह करते हैं (यत्) जो (महति) महान् (साम्पराये) परमार्थ दशा में (प्राप्त होता है) (तत्) उसको (नःब्रूहि हमारे लिए कह (यः) जो (अयम्) यह (गूमढम्) सूक्ष्म (वरः) वर (अनुप्रविष्टः) मेरे मन में समाया हुआ है (तस्मात्) उससे (अन्यम्) भिन्न वर (नचिकेता न वृणीते] नचिकेता नहीं चाहता ॥२९॥

**व्याख्या**—ऐसे सूक्ष्म विषयों के जानने वाले दुष्प्राप्य हुआ करते हैं इसलिए यम से नचिकेता ने कहा कि तेरे जैसे आत्मज्ञानी को प्राप्त होकर मैं किसलिये क्षणिक सांसारिक विषयभोग के सुख की इच्छा करूँ। विषय सुख की निःसारता का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि कोई भी वस्तु उदाहरण के लिए थोड़ी सी शक्कर, स्वाद लेने के अभिप्राय से, जुबान पर रक्खो, जुबान पर रखते ही उसका स्वाद आ जायगा। अब कोई यदि इस उद्देश्य से कि वह स्वाद बराबर आता रहे, शक्कर को न खाकर जुबान ही पर रक्खा रहने दे तो अब उसका स्वाद नहीं आता हाँ, शक्कर की दूसरी मात्रा को जुबान पर फिर रखने से अवश्य स्वाद आ जायगा परन्तु स्वाद आने के बाद उसी शक्कर ही को कितनी ही देर जुबान पर रखने से फिर स्वाद नहीं आता। इसीलिए आत्मज्ञानी स्त्री-पुरुष सांसारिक विषय सुख को निस्सार कहते और मानते हैं।

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥

# द्वितीय वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

अर्थ—(श्रेयः) मोक्ष मार्ग (अन्यत्) और है (उत) और (प्रेयः) लोकोन्नति का मार्ग (अन्यत्, एव) और ही है (ते) वे (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न-भिन्न अर्थ में (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) बांधते हैं (तयोः) उन दोनों में से (श्रेयः) श्रेय (आददानस्य) ग्रहण करने वाले का (साधु) कल्याण (भवति) होता है (यः उ) और जो (प्रेयः वृणीते) प्रेय को ग्रहण करता है वह (अर्थात्) उद्देश्य से (हीयते) गिर जाता है ॥१॥

**व्याख्या**—प्रवृति (प्रेय) और निवृत्ति (श्रेय) अर्थात् लोक और परलोकोन्नति, ये दो मार्ग में प्रेय को इस प्रकार व्यतीत करना चाहिये जिससे वह श्रेय का साधन बन जाय। इसलिये कहा गया है कि उद्देश्य तो श्रेय बनाना चाहिए परन्तु जो लोग विषय-भोग की दृष्टि से केवल लोकोन्नति को अपना लक्ष्य (ध्येय) बना लेते हैं और श्रेय की चिन्ता नहीं करते वे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप असली ध्येय से गिर जाते हैं।

**उदाहरण**—इस सम्बन्ध में नारद की एक बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका प्रसिद्ध है। नारद की युवावस्था ही थी जब वह श्रीकृष्ण के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने आया। कृष्णजी ने उसे अनधिकारी समझकर उपदेश नहीं दिया, परन्तु नारद उनके सिर रहा। एक दिन श्रीकृष्ण और नारद सैर करने चल दिये रास्ते से कुछ ही दूरी पर एक गाँव दिखाई दिया। कृष्ण को प्यास लगी। नारद गाँव से पानी लेने गया। कुएँ पर एक सुन्दर युवति जल भर रही थी। नारद को उसने पानी दिया परन्तु नारद उसके रूप पर इतना मोहित हुआ कि युवती के पीछे-पीछे उसके घर चला गया और वह अविवाहित थी इसलिए उसके पिता से विनय की कि उसका विवाह उससे कर दिया जावे विवाह के बाद गृहस्थी बनकर नारद वहीं रहने लगा। उनके क्रमशः तीन पुत्र हुए। पिता मर चुका था। कुछ समय बाद ग्राम में पानी

की बाढ़ आई और नारद ने अपनी स्त्री और तीनों बच्चों को लेकर ग्राम के चारों ओर भरे पानी में प्राण-रक्षार्थ निकलने का यत्न किया परन्तु पानी वेग से बढ़ता ही जाता था इसलिए सावधानी करने पर भी एक एक करके तीनों पुत्र और स्त्री पानी में बह गये। कठिनता से नारद अपने प्राण बचाकर वहाँ पहुँचने पर उसको स्मरण आया कि वह अपने उद्देश्य से पतित होकर किस जगड्वाल में फँस गया था।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसोवृणीते,
प्रेयो मंद योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥
स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैताᳪंसृङ्काँ वित्तमयीमवाप्तो,
यस्यांमज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

अर्थ—(श्रेयः) श्रेय (च) और (प्रेयः) प्रेय (मनुष्यम्) मनुष्य को (एतः) प्राप्त होते हैं (धीरः) बुद्धिमान् (तौ) उन दोनों को (सम्परीत्य) प्राप्त होकर (विविनक्ति) विचार करता है (धीरः) विद्वान् (हि) निश्चय (प्रेयसः) प्रवृत्ति मार्ग से (श्रेयः) निवृत्ति मार्ग को (अभिवृणीते) स्वीकार करता है (मन्दः) मूर्ख (योगक्षेमात्) सांसारिक सुखों से प्राप्त करने और उनको रक्षित रखने के विचार से (प्रेयः) प्रवृत्ति मार्ग को (वृणीते) ग्रहण करता है ॥२॥

(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (सः) सो (त्वम्) तूने (प्रियान्) पुत्रादि, (प्रियरूपान्) सुन्दर स्त्री आदि (कामान्) भोगों को (अभिध्यायन्) निस्सार समझते हुए (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (एताम्) इस (भोग की) (सुङ्काम्) शृंखला में (न, अवाप्तः) नहीं फंसा (यस्याम्) जिसमें (बहवः) बहुत (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं ॥३॥

व्याख्या—यम नचिकेता से कहता है कि धीर पुरुष श्रेय को और मन्द अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुख की दृष्टि से केवल प्रेय को अपना ध्येय बनाते हैं परन्तु तूने विषयभोग की निस्सारता पर विचार करके उन्हें छोड़ दिया जिनमें बहुत लोग फंस जाया करते हैं।

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञात।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनेव नोयमाना यथान्धाः ॥५॥
न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यान्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

अर्थ—(एते) ये दोनों मार्ग (विपरीते) एक दूसरे से विपरीत (विषूची) विरुद्धार्थ सूचक (दूरम्) और दूर है (या) जो (अविद्या) (च) और (विद्या) विद्या (इति) इस नाम से (ज्ञाता) जाने गये हैं (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता को (विद्याभीप्सिनम्) विद्या (श्रेय) का चाहने वाला (मन्ये) मानता हूँ (त्वा) तुझको (बहवः) बहुत-सी (कामाः) कामनायें (न, अलोलुपन्त) प्रलोभित नहीं करती हैं ॥४॥

(अविद्यायाम्) अविद्या (अन्तरे) में (वर्तमान;) पड़े हुए (स्वयम्) अपने को (धीराः) धीरे और (पण्डितम्) विद्वान् (मन्यमानाः) मानते हुए (दन्द्रम्यमाणाः) उल्टे रास्ते पर चलते हुए (मूढाः) मूढ (अन्धेन) अन्धे से (एव) ही (नीयमानाः) ले जाये गये (यथा) जैसे (अन्धाः) अन्धे (परियन्ति) घूमते हैं ॥५॥

(वित्त-मोहेन) धन के मोह (मूढम्) मूढ (प्रमाद्यन्तम्) प्रमादपूर्ण (बालम्) विवेक रहित पुरुष को (साम्परायः) परलोक की बात (न प्रतिभाति) पसन्द नहीं आती (अयम्) यह (लोकः) लोक है (परः, नास्ति) परलोक कुछ नहीं (इति, मानी) ऐसा मानने वाला (पुनः पुनः) बार-बार (मे) मेरे (मृत्यु के (वशम्) वश में (आपद्यते) आता है ॥६॥

**व्याख्या**—श्रेय और प्रेय, निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग ही को विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जो लोग नचिकेता की तरह सांसारिक भोगों में लिप्त नहीं होते वे ही श्रेय (विद्या) पथगामी होते हैं परन्तु प्रेय (अविद्या) ही को जिन लोगों ने अपना ध्येय बना रक्खा है और जो खुले तौर से परलोक (श्रेय) पथ की सत्ता नहीं मानते, उन्हें बार-बार मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। वे संसार में भी सफल-मनोरथ नहीं होते।

**उदाहरण**—ऐनथनी (Anthony) ने सांसारिक प्रेम से प्रसन्नता की आशा की, ब्रूटस (Brutus) ने लोकैषणा ही से सुख चाहा और सीजर (Julius Caesar) ने दूसरों पर विजय कमाना ही में आनन्द ढूंढा, परन्तु इतिहास साक्षी है कि पहला अपमानित हुआ, दूसरे को ग्लानि और तीसरे को दुःखी होना पड़ा और

परिणाम में तीनों ही की बरबादी हुई। इसीलिये केवल प्रेय ही से सुख चाहना भूल है। श्रेय को ऊँचा आसन देने से प्रेय की भी उपयोगिता हो जाती है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योस्य वक्ता कुशलोस्य लब्धा-
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

अर्थ—(यः) जो (आत्मज्ञान) (बहुभिः) बहुतों को (श्रवणाय अपि) सुनने को भी (न लभ्यः) नहीं मिलता (शृण्वन्तः, अपि) सुनते हुए भी (बहवः) बहुत (यम्) जिसको (न विदुः) नहीं जानते (अस्य) इस आत्म-ज्ञान का (वक्ता) वक्ता (आश्चर्यः) कोई विरला ही होता है (अस्य) इसका (लब्धा) पाने वाला (कुशलः) कोई प्रवीण ही होता है (कुशलानुशिष्टः) प्रवीण पुरुष से उपदेश पाया हुआ (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्यः) कोई होता है ॥७॥

व्याख्या—परलोक पथ प्रदर्शक कोई-कोई अर्थात् बहुत थोड़े होते हैं। यह मार्ग कुछ कठिन है। इसलिये बहुत तो इसे जानना ही नहीं चाहते और जो जानना भी चाहते हैं उनमें से बहुतों के यह समझ ही में नहीं आता।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्य-
णीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥
नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यान्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

अर्थ—(अवरेण) साधारण (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्तः) उपदेश किया (बहुधा) बहुत प्रकार से (चिन्त्यमानः) चिन्तन किया हुआ भी (एषः) यह आत्मा (सुविज्ञेयः, न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है (अनन्य-प्रोक्ते) ईश्वर के अनन्य भक्त के उपदेश किये हुए (अत्र) इस आत्मा में (गतिः, नास्ति) सन्देह नहीं होता (अणुप्रमाणात्) वह आत्मा सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अति सूक्ष्म है (हि) और निश्चय (अतर्क्यम्) तर्क करने योग्य नहीं है ॥८॥

(प्रेष्ठ) हे प्रियत्तम नचिकेता! (एषा) यह आत्म-ज्ञान विधायिका (मतिः) बुद्धि (तर्केण) तर्क से (न आपनेया) नहीं बिगाड़नी चाहिये (अन्येन, एव) आत्म-वित् गुरु ही से (प्रोक्ता) उपदेश की हुई बुद्धि (सुज्ञानाय) उत्तम ज्ञान के लिए उपयोगिनी होती है। (त्वम्) तू (याम्) जिस बुद्धि को (आपः) प्राप्त हुआ है

उससे (सत्य) निश्चल (धृतिः वत) धैर्य वाला (असि) है (नचिकेतः) हे नचिकेता! (त्वादृक्) तेरे समान ही (नः) हमसे (प्रष्टा भूयात्) पूछने वाला हो ॥९॥

**व्याख्या**—जो लोग अवर (अश्रेष्ठ) अर्थात् स्वयं श्रेय-पथगामी नहीं हैं वे यह मार्ग किस को नहीं दिखा सकते परन्तु जो इस पथ से पथिक—ईश्वर के अनन्य भक्त हैं, उनके बतला देने पर किसी को भी सन्देह नहीं रहता। वह परमात्मा जो इस मार्ग (श्रेय) का लक्ष्य है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और निदिध्यासन (आत्मा से ग्रहण होने योग्य) का विषय होने से तर्क का विषय नहीं है। इसलिये इस विषय में तर्क काम नहीं दे सकता किन्तु तर्क कुतर्क होने से बुद्धि का बिगाड़ने वाला होता है।

**जानाम्यꣳ शेवधिरित्यनित्यं**
**न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत्।**
**ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-**
**रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥**

अर्थ—(अहम्) मैं (शेवधिः) धन, ऐश्वर्य (अनित्यम्) अनित्य है (इति जानामि) ऐसा जानता हूँ (हि) निश्चय (अध्रुवैः) अस्थिर साधनों से (तत्) वह (ध्रुवम्) अचल आत्मा (न, प्राप्यते) नहीं प्राप्त किया जाता है (ततः) इसलिये (मया) मैंने (नाचिकेतः अग्निः) नाचिकेत अग्नि का (चितः) चयन किया है (और फलेच्छा रहित होकर) (अनित्यैः द्रव्यैः) अनित्य पदार्थों से (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को (प्राप्तवान् अस्मि) परम्परा से प्राप्त हुआ हूँ ॥१०॥

**व्याख्या**—जब यज्ञ, फल विशेष की कामना से किया जाता है तब वह उसी अनित्य फल का अनित्य साधन हुआ करता है परन्तु जब वही यज्ञ निष्कामता के साथ फल को ईश्वर के अर्पण करके किया जाता है तब वह अनित्य होते हुए भी नित्य ईश्वर प्राप्ति के साधनों में से एक हो जाता है। यम ने इसी दूसरे प्रकार के यज्ञ द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का संकेत इस उपनिषद्वाक्य में किया है।

**कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठाँ**
**क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।**
**स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठाँ**
**दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षी ॥११॥**

अर्थ—(नचिकेतः) हे नचिकेता! (कामस्य) भोग सम्बन्धी कामनाओं की (अप्राप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जगत् की (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (क्रतोः) यज्ञादि के (आनन्त्यम्) फल को (अभयस्य) लौकिक निर्भीकता की (पारम्) पराकाष्ठा को (स्तोमं महत्) स्तुति योग्य महिमा और (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (उरुगायम्) (बहुधा मनुष्य जिनका) गीत गाते हैं (दृष्ट्वा) (असार) देखकर

(धृत्या) स्थिरता के साथ (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (इसलिए तू) (धीरः) धीर है ॥११॥

व्याख्या—संसार के भोग की कामना आदि, जिनका इस श्लोक में जिक्र है, सामयिक और अल्पकालिक हैं परन्तु ब्रह्मप्राप्ति का सुख चिरकालिक है इसलिए नचिकेता ने इस दूसरे के लिए पहले (सांसारिक सुख) को छोड़ दिया।

**तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं**
**गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।**
**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं**
**मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥**

**एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः**
**प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।**
**स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा**
**विवृतँ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥१३॥**

अर्थ—(धीरः) विद्वान् (अध्यात्म-) आत्मा सम्बन्धी (योग-) योग के (अधिगमेन) अभ्यास से (तम्) उस (दुर्दर्शम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (गूढ़म्) सूक्ष्म (अनुप्रविष्टम्) अन्तःकरण और आत्मा में व्यापक (गुहाहितम्) हृदयाकाश में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुष्प्राप्य (पुराणम्) नित्य (देवम्) प्रकाशमय [परमात्मा] को (मत्वा) जानकर (हर्षशोकौ) सुख-दुःख दोनों को (जहाति) छोड़ देता है ॥१२॥

(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस (धर्म्यम्) धर्म से सिद्ध होने योग्य आत्मा को (श्रुत्वा) सुनकर और (सम्परिगृह्य) अच्छी प्रकार ग्रहण और (प्रवृह्य) बारम्बार अभ्यास करके (एतत्) इस (अणुम्) सूक्ष्म [ब्रह्म] को (आप्य) प्राप्त हो और (सः) इस (मोदनीयम्) आनन्द रूप को (लब्ध्वा) उपलब्ध करके (मोदते) आनन्दित होता है—ऐसे ब्रह्म को (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता के प्रति (विवृतम्) खुला है (सद्म) द्वार [जिसका ऐसे स्थान के सदृश] (मन्ये) मानता हूँ ॥१३॥

व्याख्या—अनेक गुणों से भूषित ब्रह्म को जानकर संसार के द्वन्द्वमय सुख और दुःख दोनों को धीर पुरुष छोड़, और अभ्यास तथा वैराग्य से उस ब्रह्म को प्राप्त कर लिया करता है—यह ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग नचिकेता के लिए खुला हुआ है ऐसा यम समझता है। विषय-भोग सम्बन्धी सांसारिक सुख भी अन्त में दुःख-प्राप्ति का हेतु हुआ करता है इसीलिये आत्मज्ञानी दुःख के साथ इस सुख को भी छोड़ दिया करता है।

**अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात्कृताऽकृतात् ।**
**अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥**

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।१५।।
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।१६।।
एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।१७।।

अर्थ—(धर्मात्) कर्त्तव्य रूप आचरण से (अन्यत्र) पृथक् (अधर्मात्) अकर्तव्य से भी (अन्यत्र) पृथक् (अस्मात्) इस (कृत) कार्य्य (अकृतात्) और कारण से (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) बीते काल से (भव्यात्) आने वाले समय से (च) वर्तमान से भी (अन्यत्र) अलग (यत्) जिसको (पश्यसि) तू देखता है (तत्) उसको (वद) कह ।।१४।।

(सर्वे वेदाः) चारों वेद (यत्) जिस (पदम्) पद का (आमनन्ति) वर्णन करते हैं (सर्वाणि) सारे (तपांसि च) तप और नियमादि (यत्) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं। (यत्) जिस पद की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्मचर्य के नियमों का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्) उस (पदम्) पद को (ते) तेरे [नचिकेता के] लिए (संग्रहेण) संक्षेप से (ओम्) ओ३म् (इति) है (एतत्) यह (ब्रवीमि) कहता हूं ।।१५।।

(हि) निश्चय (एतत्) यह [ओ३म्] (एव) ही (अक्षरम्) नाश न होने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म है (एतत्) यह (एव) ही (परम्) सर्वश्रेष्ठ (अक्षरम्) अक्षर है (एतत्, हि, एव) निश्चय इस ही (अक्षरम्) अविनाशी ब्रह्म को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो कोई (यत्) जिस विषय को (इच्छति) चाहता है (तस्य) उसको (तत्) वह प्राप्त हो जाता है ।।१६।।

(एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ है (एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (परम्) सर्वोपरि है (एतत्) इस (आलम्बनम्) आलम्बन को (ज्ञात्वा) जानकर (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (महीयते) आनन्दित होता है ।।१७।।

**व्याख्या**—नचिकेता के पूछने पर यम ने बतलाया कि ब्रह्म जो मनुष्य के कर्त्तव्याकर्तव्य, कृत्याकृत्य और तीनों काल से पृथक् है और जिसका वर्णन समस्त वेद करते हैं और जिसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन किया जाता है, वह ओ३म् पद वाच्य है और वही अविनाशी तथा सर्वाधार है और उसी के जानने से मनुष्य उच्च गति प्राप्त किया करता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥१९॥

(विपश्चित्) ज्ञानी (अयम्) यह [आत्मा] (न, जायते) न उत्पन्न होता और (वा, म्रियते) न मरता है (कुतश्चित्) किसी [उपादान] से (न, बभूव) उत्पन्न नहीं हुआ (कश्चित्) कोई [इससे भी उत्पन्न नहीं हुआ] (अयम्) यह आत्मा (अजः) जन्म नहीं लेता (नित्यः) नित्य (शाश्वतः) अनादि (पुराणः) सनातन है (शरीरे) शरीर के (हन्यमाने) नाश होने पर (न, हन्यते) नष्ट नहीं होता ॥१८॥

(चेत्) यदि (हन्तुम्) मारने को, अर्थात् उसने आत्मा को मार दिया ऐसा (हन्ता) मारने वाला (मन्यते) समझता है (चेत्) और यदि (हतः) मरा हुआ (हतम्) आत्मा को मरा हुआ (मन्यते) जानता है (तौ) वे (उभौ) दोनों (न, विजानीतः) कुछ नहीं जानते (अयम्) यह आत्मा (न हन्ति) किसी को नहीं मारता (न हन्यते) और न किसी से मारा जाता है ॥१९॥

व्याख्या—ब्रह्म का उपदेश करने के बाद नचिकेता को जीवात्मा का जो उसके तीसरे वर का विषय है वर्णन करते हैं। यम कहता है कि जीवात्मा अनुत्पन्न, अनादि और अमृत्यु है, वह किसी का न उपादान है और न कोई दूसरा उसका उपादान है। शरीर से सर्वथा पृथक् है और शरीर के नष्ट होने से नष्ट भी नहीं होता। अज्ञानी लोग समझते हैं कि उसे (जीव को) कोई मार सकता है अथवा वह किसी को मार दिया करता है।

अणोरणीयान्महतो महीया-
न्नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥
आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥
अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

अर्थ—(आत्मा) ब्रह्म (अणोः) सूक्ष्म [जीवों] से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है (महतः) बड़े [आकाशादि] से भी (महीयान्) बड़ा है वह (अस्य) इस (जन्तोः) प्राणी के (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः) आत्मा की (महिमानम्) महिमा को (धातुः प्रसादात्) बुद्धि के निर्मल होने से (अक्रतुः) निष्काम (वीतशोकः) शोकरहित प्राणी (पश्यति) देखता है ॥२०॥

(आसीनः) बैठा हुआ ही (दूरम्) दूर (व्रजति) पहुँचता है (शयानः) सोता हुआ (सर्वतः) सब ओर (याति) जाता है (तम्) उस (महामदम्) आनन्द रूप (देवम्) देव को (मदन्यः) मुझसे भिन्न (कः) कौन (ज्ञातुम्) जानने को (अर्हति) समर्थ है ॥२१॥

(शरीरेषु) साकार पदार्थों में (अशरीरम्) निराकार (अनवस्थेषु) चलायमान [पदार्थों] में (अवस्थितम्) अचल (महान्तम्) अनन्त (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) धीर पुरुष (न शोचति) शोक नहीं करता ॥२२॥

**व्याख्या**—परमाणु जो सूक्ष्म से सूक्ष्म समझा जाता है और ब्रह्मांड जो असीम और अपार माना जाता है, ईश्वर उनसे क्रमपूर्वक सूक्ष्म और महान् है। उसकी प्राप्ति के तीन साधन हैं—(१) निष्कामता, (२) शोक से रहित होना तथा (३) बुद्धि की निर्मलता ॥२०॥

ईश्वर के लिए जो "आसीन", "व्रजति" और "शयान" शब्द प्रयुक्त हुए हैं इनमें से आसीन और शयान उसकी अचलता और एकरसता प्रकट करने के लिए और "व्रजति" उसकी सर्वव्यापकता प्रकट करने के लिए हैं। भाव इनका यह है कि वह अचल और एकरस होते हुए भी, अपनी सर्वव्यापकता से, हर जगह पहुँचा हुआ है ॥२१॥

शोक-निवृत्ति के लिए उस निराकार, अचल, महान् और व्यापक ईश्वर का ज्ञान अनिवार्य है ॥२२॥

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो**
**न मेधया न बहुना श्रुतेन ।**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-**
**स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥**

अर्थ—(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (प्रवचनेन) शिक्षा=बहुत पढ़ लेने से (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता (न, मेधया) बुद्धि से भी नहीं प्राप्त होता (न, बहुना, श्रुतेन) और न बहुत सुनने [उपदेश] से प्राप्त होता है (एषः) यह ब्रह्म (यम्) जिसको (एव) ही (वृणुते) स्वीकार करता है (तेन) उस [स्वीकार करने या छांट लेने] से (लभ्यः) प्राप्त होता है (एषः आत्मा) वह ब्रह्म (तस्य) उसके लिए (स्वाम्) अपने (तनूम्) स्वरूप को (विवृणुते) प्रकाशित कर देता है ॥२३॥

**व्याख्या**—परमेश्वर प्रवचन, मेधा अथवा बहुश्रुत होने से नहीं प्राप्त होता, अर्थात् उसका प्राप्त होना, प्राप्त करने की इच्छा करने वालों के अधिकार में नहीं है किन्तु स्वयं उस [ईश्वर] ही के अधिकार में है कि वह किसी को प्राप्त हो जावे। उपनिषद् की इस विलक्षण शिक्षा पर, एक शका जो उत्पन्न होती है वह यह है कि ईश्वर क्या अन्धाधुन्ध किसी को प्राप्त हो जाता है अथवा प्राप्त होने की कोई मर्यादा

या नियम है। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है कि 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय।। ऋ० ४-३३-११' अर्थात् यत्न करके थके बिना कोई ईश्वर की मित्रता प्राप्ति के लिए समर्थ नहीं होता। इस शिक्षा का भाव यह है कि ईश्वर के निर्वाचन में आने का अधिकारी बनने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य जितना अधिक से अधिक यत्न, स्वयं कर सकता है, करके तब ईश्वर की दया की इच्छा रक्खे। एक आख्यायिका वेदान्त के ग्रन्थों में आई है जिसमें कहा गया है कि एक खड़ी हुई माता का छोटा, अपने पांवों से खड़ा होकर न चल सकने वाला, बालक उससे दूर खेल रहा था। बालक को भूख लगी तब वह माता की ओर घुटने के बल चला और माता के चरणों तक पहुँच गया। माता खड़ी हुई थी इसलिए यह उस छोटे बालक की शक्ति से बाहर था कि वह अपना मुँह माता के स्तनों तक पहुँचाकर दूध पीकर अपनी भूख शान्त करे। अब वह सहायता के लिए आशाभरी दृष्टि से माता की ओर देखता है। माता के हृदय में दया के भाव जागृत होते हैं और वह बच्चे को गोद में उठाकर, दूध पिलाकर उसकी भूख शान्त कर देती है। इसी प्रकार जब मुमुक्षु अपहतपाप्मादि साधनों की पूर्ति करके हृदय ग्रन्थि को काट देता है तब वह ईश्वर की दया का पात्र बनकर उसके प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया करता है। एक उर्दू के कवि ने इस भाव को इस प्रकार प्रकट किया है—

"मिलने न मिलने का तो वह मुख्तार आप है।
पर तुझको चाहिए कि तगो दौ[1] लगी रहे।"

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।२४।।

अर्थ—(दुश्चरितात्) दुश्चरित्र से (अविरः) अस्थिर मत वाले, (एनम्) इस ब्रह्म को (न) प्राप्त नहीं होते (अशान्तः) चंचल चित्त भी (न) नहीं पाता (असमाहितः) संशयात्मा भी (न) नहीं प्राप्त करता (अशान्तमानसः) तृष्णा में फँसे हुए मन वाला (अपि) भी (न) नहीं प्राप्त होता (प्रज्ञानेन) प्रेरिता बुद्धि से (आप्नुयात्) प्राप्त होवे ।।२४।।

**व्याख्या**—दुश्चरित्रता, मन की चंचलता, संशय, अशान्ति तथा तृष्णा में फंसावट ये सब या इनमें से कोई भी जिस व्यक्ति में होती है, स्पष्ट है कि उसका मन मलीन होता है। मन की मलीनता मनुष्य के भीतर सात्विक भावों की जागृति नहीं होने देती। वह सदैव तमोगुण के अन्धकार और रजोगुण के दलदल में फंसा रहता है। यह अवस्था ब्रह्म के समीप होने की नहीं है अपितु ब्रह्म से दूर करने का कारण है। इन विघ्नबाधाओं को दूर करने को मनुष्य के लिए आवश्यक है कि उसकी बुद्धि प्रेरिता बुद्धि बने, जो विघ्नों से दूर रहा करती है जब उसकी बुद्धि सुधरने लगती

---

१. तग+दौ=दौड़धूप, पुरुषार्थ।

हैं तो क्रमशः वह उस अवस्था को भी प्राप्त कर लेता है जिसमें उसका मन और बुद्धि सभी स्थिर हो जाती है। यही ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग की ओर मुंह फिर जाना कहा जाता है।

**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।**
**मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥**

अर्थ—(यस्य) जिसके (ब्रह्म) ब्राह्मण [ज्ञानवाला] (च) और (क्षत्रम्,च) क्षत्रिय [बलवान् भी] (उभे) दोनों (ओदनम्) भक्ष्य (भवतः) होते हैं (यस्य) जिसका (उपसेचनम्) उपसेचन [जल] (मृत्युः) मौत है (सः) वह ब्रह्म (यत्र) जहां है और (इत्था) ऐसा है (कः) कौन (वेद) जान सकता है ॥२५॥

**व्याख्या**—वह महान् ईश्वर जो ब्रह्माण्ड को प्रलयावस्था में पहुँचाकर सबको अपने में जज्ब कर लेता है और मृत्यु को भी तेज रहित कर देता है, किसकी सामर्थ्य है कि उसे इन आंखों से देखकर बतला सके कि वह ऐसा है और यहां है। वह तो आत्मा का विषय है इसीलिए वेद ने उसको आत्मा के भीतर घुसकर ही प्राप्त करने का आदेश दिया है।

**आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश ॥ यजुर्वेद ३२ । २१**

अर्थात् आत्मा के द्वारा ब्रह्म में प्रवेश करे।

**वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत् ॥ यजुर्वेद ३२ । ८**

अर्थात् विद्वान् उसको गुहा (हृदयाकाश) में देखता है।

एक उर्दू के कवि ने लौकिक प्रेम में इसी भाव को बड़ी उत्तम रीति से प्रकट किया है:—

वह दिन खुदा करे कि खुदा भी वहां न हो।
मैं हूँ, सनम[१] हो, और कोई दरमियां न हो ॥

॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ॥

---

१ सनम ·····प्रेष्ठ, प्रियतम।

# तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति:
पञ्चाग्नयो ये त्रिणाचिकेताः ॥१॥

अर्थ — (परमे) सर्वोत्तम (परार्द्धे) अन्तः शरीरस्थ (गुहां) हृदयाकाश में (प्रविष्टौ) स्थित (लोके) लोक में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्मों के (ऋतम्) फल को (पिबन्तौ) भोगते हुए (छायातपौ) छाया और प्रकाश के तुल्य (ब्रह्मविदः) ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीन बार नाचिकेत अग्नि का सेवन किये हुए (पञ्चाग्नयः) पञ्चयज्ञों के करने वाले [कर्मकाण्डी] हैं वे भी ऐसा ही कहते हैं ॥१॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस वाक्य में जीव और ईश्वर दोनों के लिए द्विवचनान्त क्रिया आदि का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य यह है कि वे दोनों स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले और पृथक्-पृथक् हैं। उनको हृदयाकाश में प्रकाश और छाया की तरह स्थित बतलाते हुए दोनों का सम्बन्ध कर्म से जोड़ा गया है। अर्थात् एक (जीव) कर्म करके फल का भुगतने वाला और दूसरा (ईश्वर) साक्षी रहकर फल का देने वाला है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात्—अपने जैसे नित्य [प्रकृति रूप] वृक्ष पर स्थित दो पक्षी रूप [जीव और ईश्वर] हैं जिनमें से एक [जीव] वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को चखता है और दूसरा [ईश्वर] भोग न करता हुआ साक्षी मात्र है।

उपनिषद्वाक्य में 'पिबन्तौ' क्रिया का प्रयोग कर्म से दोनों (ईश्वर और जीव) का सम्बन्ध प्रकट कर देने और द्विवचन रूप में दोनों को पृथक्-पृथक् प्रकट कर देने मात्र से है।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ शकेमहि ॥२॥

**अर्थ**—(यः) जो (ईजानानाम्) यज्ञशीलों का (सेतुः) पुल [के समान है] (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (शकेमहि) हम जान सकते हैं और (यम्) जो (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा करने वालों का (अभयम्) भयरहित (पारम्) [भव-सिन्धु का] पार है, उस (परम्) सर्वोत्कृष्ट (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) ब्रह्म को भी (शकेमहि) जान सकते हैं ।।२।।

**व्याख्या**—ईश्वर जो कर्म और ज्ञान सेवन करने वाले दोनों को पार लगाने वाला है, उसको योगी आत्मस्थ होकर जान लिया करते हैं ।

**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।**
**बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।३।।**
**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँऽस्तेषु गोचरान् ।**
**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।४।।**
**यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।**
**तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।५।।**
**यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।**
**तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।६।।**
**यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।**
**न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।।७।।**
**यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।**
**स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।८।।**
**विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।**
**सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।९।।**

**अर्थः**—(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी—सवार (विद्धि) जान (तु) और (शरीरम्, एव) शरीर को ही (रथम्) रथ [जान] (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धि को (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (च) और (मनः,एव) मन को ही (प्रग्रहम्) लगाम [जान] ।।३।।

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं (तेषु) उन [इन्द्रियों] में (विषयान्) शब्द-स्पर्शादि को (गोचरान्) मार्ग [कहते हैं] (मनीषिणः) विचारशील पुरुष (आत्मा, इन्द्रिय, मनो, युक्तम्) इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोगने वाला (इति, आहुः) ऐसा कहते हैं ।।४।।

(यः तु) जो (अविज्ञानवान्) अज्ञानी (अयुक्तेन, मनसा) अनवस्थित मन से (सदा) हमेशा [युक्त] (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) रथवान् के (दुष्ट, अश्वाः, इव) दुष्ट घोड़ों के समान (अवश्यानि) वश में नहीं होती हैं ।।५।।

(तु) और (यः) जो (विज्ञानवान्) ज्ञानी (युक्तेन, मनसा) वश में रहने वाले मन से (सदा) सर्वदा युक्त (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) रथवान् के (सद् अश्वाः, इव) सुधरे हुए घोड़ों की तरह (वश्यानि) वश में होती हैं ॥६॥

(यः तु) जो (अविज्ञानवान्) विवेक रहित (अमनस्कः) मन के पीछे न चलने वाला (सदा) हमेशा (अशुचिः) अपवित्र (भवति) होता है (सः) वह (तत्) उस (पदम्) पद को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त होता (च) बल्कि (संसारम्) जन्म-मरण के प्रवाह रूपी संसार को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥७॥

(तु) और (यः) जो (विज्ञानवान्) विवेकसम्पन्न, (समनस्कः) मन को वश में करने वाला, (सदा) निरन्तर (शुचिः) शुद्ध (भवति) होता है (सः) वह (तु) तो (तत्, पदम्) उस पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है (यस्मात्) जिससे (भूयः) फिर (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता ॥८॥

(यः तु) जो तो (नरः) मनुष्य (विज्ञान-सारथिः) विवेक रूपी सारथि वाला और (मनः-प्रग्रहवान्) मन की लगाम को अधिकार में रखने वाला (सः) वह (अध्वनः) मार्ग के (पारम्) पार (विष्णोः) व्यापक ब्रह्म के (परमम्) सर्वश्रेष्ठ (तत्) उस (पदम्) पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥९॥

व्याख्या—इन श्लोकों में एक उत्तम अलंकार से बतलाया है कि ब्रह्मविद्या विद्यार्थी को किस प्रकार अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखना चाहिए जिससे वह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सके।

कोई रथ जिसमें घोड़ जुते हों किस प्रकार अच्छा काम दे सकता है ? जब सवार का आज्ञानुवर्ती रथवान् हो और रथवान् के कब्जे में लगाम और घोड़े लगाम के इशारे से चलने वाले हों और घोड़े जिस सड़क पर चलते हैं वह अच्छी और निर्दिष्ट स्थान को ले जाने वाली हो।

ठीक ऐसा ही रथ मनुष्य का शरीर भी है। इस रथ का सवार आत्मा, कोचवान बुद्धि, लगाम मन और घोड़े इन्द्रियां हैं। इस रथ को भी ऐसा ही होना चाहिए कि आत्मा के अधीन बुद्धि, बुद्धि के अधीन मन और मन के अधिकार में इन्द्रियां हों। तभी यह रथ अभ्युदय और निःश्रेयस रूप धर्म मार्ग पर चलकर सवार को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने का कारण बन सकता है। यह शरीररूपी रथ उपर्युक्त भांति काम दे सके इसके लिए आवश्यक है कि आत्मारूपी सवार (मनुष्य) सावधान हो। यदि वह ज्ञानी है तो स्वयं न तो मन के पीछे चलेगा और न इन्द्रियों को दुष्ट घोड़ों की तरह बेकाबू होने देगा।

(२) चौथे उपनिषद् वाक्य में कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता कौन है इसका बड़ा उत्तम निर्णय किया है। उपनिषद् ने स्थिर किया है कि आत्मा, मन और इन्द्रियां ये तीनों ही मिलकर कर्त्ता और भोक्ता हैं।

सांख्य दर्शन में कहा गया है कि:—

अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः ।।

अर्थात् कर्तृत्व आत्मा में नहीं है किन्तु अहंकार[1] में है। फिर गीता में कहा है:—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।।

( गीता ३-२७ )

अर्थात् कर्म तो प्रकृति के गुण (सत्त्व, रज और तम) करते हैं परन्तु अहंकार से मूढ़ हुआ जीव अपने को कर्त्ता मानता है। सांख्य और गीता के इन दोनों वाक्यों से स्पष्ट है कि दोनों ने कर्तृत्व प्रकृति में माना है परन्तु विचारणीय बात यह है कि किस प्रकृति में इन्होंने कर्तृत्व का आरोप किया है? उत्तर साफ है कि प्रकृति के उसी भाग में चाहे वह अहंकार के रूप में हो, चाहे प्रकृति के गुणों-सत्त्व, रज और तम के रूप में हो, जो मनुष्य के शरीर के रूप में है, और जिसका सम्बन्ध किसी जीवात्मा से है, कर्तृत्व माना गया है। यदि कर्तृत्व प्रकृति मात्र में होता तो मकानों के खम्भे आदि भी प्राणियों की तरह से चलते-फिरते और हमसे बातचीत करते परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए कर्तृत्व आत्मा से सम्बन्धित शरीर ही में मानने के लिए विवश होना पड़ता है। उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में शरीर के स्थान में मन और इन्द्रिय कहा गया है। चाहे आत्मा से सम्बन्धित शरीर (मन+इन्द्रिय) कह लिया जावे या आत्मा और मन, इन्द्रिय कह लिया जावे, बात दोनों अवस्थाओं में एक ही है, कर्तृत्व वहीं हो सकता है जहाँ तीनों आत्मा, मन और इन्द्रिय इकट्ठे हों। इस प्रकार उपनिषद्, गीता तथा सांख्य के वाक्यों में संगतिकरण हो जाता है और उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता।

(३) शरीर को रथ कहे जाने का अलंकार अथर्ववेद में भी आया है। वहां कहा गया है:—

'आरोह इमम् अमृतं सुखं रथम्।'

अथर्व० ८-१-१६।।

अर्थात् इस शरीर रूपी रथ पर जो अमृत और सुख है, चढ़ो। शरीर (मनुष्ययोनि) प्रवाह से नित्य है इसलिये उसे अमृत कहना ठीक ही है। दूसरा विशेषण जो 'सुख' है, बड़े महत्त्व का है। सुख शब्द के अर्थ सु=अच्छी+खम्=इन्द्रियां, अर्थात् शरीर रूपी रथ कैसा होना चाहिये इसको वेद ने कह दिया है कि अच्छी

---

१. सूक्ष्म भूत जिसकी उत्पत्ति महत्तत्त्व के बाद होती है और जिस उत्पत्ति के बाद ही से व्यक्तित्व (Individuality) की सत्ता स्थिर होती है। मैं और मेरेपन के भाव भी इसी अहंकार की उपज है।

इन्द्रियों वाला, तभी उससे मुमुक्षु अमरता=मोक्ष और सुख (आनन्द) प्राप्त कर सकता है। सुख और दुःख का कारण स्वयं इन्हीं शब्दों 'सुख' 'दुःख' के अन्दर मौजूद है अर्थात् यदि अच्छी इन्द्रियां हैं तो मनुष्य सुखी है यदि बुरी इन्द्रियां हैं तो दुःखी।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

(इन्द्रियभ्यः) इन्द्रियों से (हि) निश्चय (अर्थाः) शब्दादि विषय (पराः) सूक्ष्म हैं (च) और (अर्थेभ्यः) विषयों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है (च) और (मनसः) मन से (बुद्धिः) बुद्धि (परा) सूक्ष्म है (बुद्धेः) बुद्धि से (महानात्मा) महत्तत्व बुद्धि का कारण (परः) सूक्ष्म है ॥१०॥

(महतः) महतत्त्व से (अव्यक्तम्) कारण रूप अप्रकट प्रकृति (सूक्ष्म है) (अव्यक्तात्) अप्रकट प्रकृति से (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म (परः) सूक्ष्म है (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्, न) कुछ नहीं (सा) वही (काष्ठा) स्थिति की सीमा (सा) वही (परा, गतिः) अन्तिम अवधि है ॥११॥

व्याख्या—उपनिषद् के इन वाक्यों में, मनुष्य के ध्येय ब्रह्म विद्या की उपलब्धि के लिये, ब्रह्म का पता देते हुए उसकी ओर चलने का निर्देश किया गया है—आत्मा के बाहर स्थूल प्रकृति और अन्दर सूक्ष्म ब्रह्म हैं। इसलिये स्थूल को क्रमशः छोड़ते हुए सूक्ष्मता की ओर चलने ही से उसकी प्राप्ति हो सकती है। इन्द्रिय, उसके विषय, मन, बुद्धि, महत्तत्त्व और अव्यक्त=अप्रकट प्रकृति एक दूसरे से क्रमशः सूक्ष्म हैं। स्थूल जगत् में सबसे अधिक सूक्ष्म प्रकृति है। प्रकृति तक मनुष्य के शरीर में जिसका नाम कारण शरीर है पहुंचकर ब्रह्मविद्या का पथिक, अपनी-आधी मंजिल [बहिर्मुखी वृत्ति की समाप्ति द्वारा] समाप्त कर लेता है अब उसको उस कारण-शरीर रूपी प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म पुरुष [ब्रह्म] की ओर जीव की अन्तर्मुखी वृत्ति की जागृति के द्वारा, चलना पड़ता है। यही मनुष्य के पुरुषार्थों की चरम सीमा है, इससे आगे अथवा इससे सूक्ष्म और कुछ नहीं है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥
यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

अर्थ—(सर्वेषु) सब (भूतेषु) पदार्थों में (एषः) यह (गूढ़ोत्मा) सूक्ष्म आत्मा (न, प्रकाशते) नहीं प्रकाशित होता (तु) किन्तु (अग्रया) तीव्र (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्धया) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शियों से (दृश्यते) देखा जाता है।

(प्राज्ञः) ज्ञानी पुरुष (मनीस) मन में (वाक्) वाणी को (यच्छेत्) जोड़े (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के साधन बुद्धि में (यच्छेत्) ठहरावे (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति आत्मनि) महत्तत्त्व में (नियच्छेत्) युक्त करे (तत्) उस महतत्त्व को (शान्ते, आत्मनि) प्रशान्त आत्मा में (यच्छेत्) ठहरा देवे ।।१३।।

**व्याख्या**—इस सूक्ष्म पुरुष को, जिसका उपनिषद्वाक्य संख्या १०, ११ में वर्णन हुआ है, कोई भी व्यक्ति जगत् के स्थूल पदार्थों में इन्द्रियों द्वारा नहीं देख सकता। इसको कोई सूक्ष्मदर्शी जिज्ञासु अपनी बुद्धि को अत्यन्त सूक्ष्म, निर्मल बना कर [अन्तर्मुखी वृत्ति की जागृति द्वारा] ही साक्षात् कर सकता है, उसकी ओर चलने अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने का मार्ग बाहर से भीतर की ओर चलना है जिसका क्रम यह है कि वाणी (आदि समस्त इन्द्रियों) को जिज्ञासु मन में लगा देवे जिससे इस प्रकार भीतर चलने से वे बाहर अपने विषयों की ओर न जा सकें, मन को अपने से सूक्ष्म बुद्धि में लगावे, बुद्धि को अपने कारण महत्तत्व में लगा देवे और इस बुद्धि के कारण महत्तत्व को आत्मा में लगा देवे। आत्मा में उसके लगने का अभिप्राय यह है कि अब अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हुई और आत्मा बाहर का काम बन्द करके आत्म-साक्षात्कार में लग गया।

**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**
**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**
**दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।।१४।।**

अर्थ—(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो (वरान्) इष्ट इच्छाओं को (प्राप्य) प्राप्त होकर (निबोधत) जानो (निशिता) तेज (दुरत्यया) अति कठिन क्षुरस्य, धारा) छुरे की धार के समान (कवयः) सूक्ष्मदर्शी लोग (तत्) उस (पथः) मार्ग को (दुर्गम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (वदन्ति) कहते हैं ।।१४।।

**व्याख्या**—यह आत्म-साक्षात्कार का मार्ग अत्यन्त कठिन है इसीलिये आत्मदर्शी लोग इस मार्ग को छुरे की धार पर चलने के सदृश बतलाते हैं। इसी उद्देश्य से इस उपनिषद्वाक्य में जिज्ञासु को सावधान होकर कार्य करने की चेतावनी दी गई है।

**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं**
**तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।**
**अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं**
**निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।१५।।**

अर्थः—(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्) शब्द नहीं, जो कान से जाना जावे, (अस्पर्शम्) स्पर्श नहीं, जो त्वचा से ग्रहण किया जावे, (अरूपम्) रूप नहीं, जो आंख से देखा जा सके, (तथा) इसी प्रकार (अरसम्) रस नहीं, जो जिह्वा से चखा जा सके (च) और (अगन्धवद्) गन्ध वाला नहीं, जो नाक से सूंघा जा सके।

(अव्ययम्) अविनाशी (नित्यम्) सदा एक रस (अनादि) अनुत्पन्न (अनन्तम्) सीमा-रहित (महतः परम्) महत्तत्व से भी सूक्ष्म (ध्रुवम्) अचल है (तम्) उसको (निचाय्य) निश्चयात्मक रीति से जानकर (मृत्यु) मौत के (मुखात्) मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥१५॥

व्याख्या—ईश्वर की उपासना दो प्रकार की है –

(१) **सगुणोपासना** (२) **निर्गुणोपासना**। इनमें से **सगुणोपासना** वह है जिसमें प्रभु के सत्तात्मक दिव्यगुणों को धारण करके मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुक) ईश्वर के समीप होकर[1] आनन्द प्राप्त करता है, और **निर्गुणोपासना** वह है जिसके द्वारा मनुष्य ईश्वर के निषेधात्मक गुणों को, अपने भीतर से निकालकर मौत के बन्धन से छूटा करता है। यह उपनिषद्वाक्य निर्गुणोपासनापरक है। इसीलिये इसमें ईश्वर के शब्द रहित, स्पर्श रहित रूप रहित, अविनाशी, रसना रहित, गन्धरहित, अनादि, अनन्तादि निषेधात्मक गुणों का वर्णन करते हुए शिक्षा दी गई है कि इनका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करके मुमुक्षु अपने को मृत्यु के मुख से बचा लेवे। यदि ईश्वर को केवल निर्गुण माना जावे तो उपासक के पास से कुछ जा तो सकता है परन्तु उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ सकता। एक कवि ने क्या अच्छा कहा है:—

गर हुस्न न हो इश्क भी पैदा नहीं होता।
बुलबुल गुलेतसवीर पै शैदा नहीं होता॥

**नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।**
**उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥**
**य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।**
**प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते**
**तदानन्त्याय कल्पते ॥१७॥**

अर्थ—(नाचिकेतम्) नचिकेता से ग्रहण किये गये (मृत्युप्रोक्तम्) मृत्यु से उपदेश किये गये (सनातनम्) पुराने (उपाख्यानम्) आख्यान को (उक्त्वा) कहकर (च) और (श्रुत्वा) सुन कर (मेधावी) विवेकी पुरुष (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के पद में (महीयते) बड़ाई पाता है ॥१६॥

(यः) जो कोई (प्रयतः) सावधान होकर (इमम्) इस (परमम्) अत्यन्त (गुह्यम्) गुप्त शिक्षा को (ब्रह्म संसदि) विद्वानों की सभा में (वा) या (श्राद्धकाले) श्रद्धा से किये जाने वाले कार्यों के समय में (श्रावयेत्) सुनावे (तत्) वह (आनन्त्याय) असीम फल की प्राप्ति के लिए (कल्पते) समर्थ होता है ॥१७॥

---

१. सगुणोपासना का अभिप्राय जानने के लिए देखो इसी उपनिषद् की पांचवीं वल्ली का वाक्य ११ व्याख्या सहित।

**व्याख्या**—ये वाक्य, ग्रन्थ की समाप्ति पर फलश्रुति के सदृश प्रयुक्त हुए वाक्यों की तरह के प्रतीत होते हैं। 'प्रयत:' को 'प्रेत्य' अथवा 'प्रेत' जिस धातु से बने हैं उसी धातु से बना बतलाकर कुछ विद्वान् उसके अर्थ 'मरते समय' करते हैं। उनका कहना है कि यह समय छल और दम्भ से रहित होने का समय होता है इसमें मनुष्य के मुख से वही बातें निकलती हैं जो उसने इससे पूर्व के जीवन में की होती हैं इसलिये यह मरने का समय श्रद्धा=सचाई के धारण करने से श्रद्धाकाल भी कहा जाता है। भाव यह है कि जब मरने वाले की यह अवस्था आ जावे तब उसे यम का उपदेश किया हुआ नचिकेता का उपाख्यान सुनाना चाहिये जिससे मृत्यु की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करके वह उसके भय से स्वतन्त्र हो जावे। कुछ इसी प्रकार की ध्वनि पारस्कर गृह्य सूत्र के इस वचन से निकलती है—'यमगाथां गायन्तो यमसूक्तञ्च जपन्त इत्येके'। (का० कण्डिका १०, सूत्र ९) अर्थात् कुछ विद्वान् अन्त समय यम की गाथा गायन करते और यमसूक्त को जपते हैं। यह कथन भी स्वीकार किया जा सकता

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥

# चतुर्थी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-

स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद् धीरःप्रत्यगात्मानमैक्ष-

दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

अर्थ—(स्वयंभूः) अपनी ही सत्ता से स्थित रहने वाले [परमात्मा] ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) वाह्य विषयों पर गिरने वाला (व्यतृणत्) किया है (तस्मात्) इसलिए मनुष्य (पराङ्) वाह्य विषयों को (पश्यति) देखता है (न, अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा को नहीं (कश्चित्) कोई (आवृत्तचक्षुः) ध्यानशील (धीरः) विवेकी पुरुष (अमृतत्वम्) मोक्ष की (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (प्रत्यगात्मानम्) हृदयाकाशस्थ आत्मा को (ऐक्षत्) देखता [साक्षात् करता] है ॥१॥

**व्याख्या**—इन्द्रियों का स्वभाव ही वाहर की ओर चलने का है फिर इनके पीछे चलकर, स्पष्ट है कि कोई भी आत्मद्रष्टा नहीं बन सकता। आत्मदर्शन भीतर घुसे विना नहीं प्राप्त हो सकता।

**पराचः कामाननुयन्ति बाला-**

**स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।**

**अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा**

**ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥**

**येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शाँश्च मैथुनान् ।**

**एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥**

**एतद्वैतत् ॥३॥**

अर्थ—जो (बालाः) अज्ञानी पुरुष (पराचः) वाह्य (कामान्) विषयों के (अनुयन्ति) पीछे दौड़ते हैं (ते) वे (विततस्य) फैले हुए (मृत्योः) मृत्यु के (पाशम्) बन्धन को (यन्ति) प्राप्त होते हैं (अथ) और (धीराः) ज्ञानी पुरुष (ध्रुवम्) निश्चल (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (इह) संसार में (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों में (न, प्रार्थयन्ते) [सुख को] नहीं चाहते ॥२॥

(येन) जिस (एतेन, एव) इस ही [आत्मा की सत्ता] से मनुष्य (रूपम्) रूप, (रसम्) रस, (गन्धम्) गन्ध, (शब्दान्) शब्द, (स्पर्शान्) स्पर्श (च) और (मैथुनान्) विषय भोगों को भी (विजानाति) जानता है, फिर (अत्र) यहां (किम्)

क्या (परिशिष्यते) बाकी रह जाता है (एतत्, वै, तद्) यही आत्मा है ।।३।।

**व्याख्या**—अज्ञानी पुरुष बाह्य विषयों की ओर चलकर मृत्यु के फैले हु जाल में फँसते हैं, परन्तु जो ज्ञानी हैं वे इस विषय-वासनाओं से अमरता की आश नहीं करते ।।२।।

जिससे संसार में मनुष्य इन्द्रियों के विषय शब्दादि का ज्ञान प्राप्त किय करता है वह आत्मा है ।।३।।

स्वप्नान्तं जागारितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।४।।
य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।
एतद्वै तत् ।।५।।
यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत् ।।
एतद्वैतत् ।।६।।
या प्राणन् सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीम् या भूतेभिर्व्यजायत ।।
एतद्वै तत् ।।७।।
अरण्योर्विहितो जातवेदा
गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ।।
एतद्वै तत् ।।८।।
यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।।
एतद्वै तत् ।।९।।
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।१०।।
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।११।।
अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।
एतद्वै तत् ।।१२।।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ।।
एतद्वै तत् ।।१३।।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ।।१४।।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।१५।।

अर्थ—(येन) जिससे (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था के अन्त (च) और (जागरितान्तम्) जागृत के अन्त (उभौ) इन दोनों को (अनुपश्यति) देखता है उस (महान्तम्) सबसे बड़े (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील (न, शोचति) शोक से शोकित नहीं होता ।।४।।

(यः) जो कोई (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्मफल भोक्ता (जीवम्) जीव के (अन्तिकात्) समीपवर्ती (भूतभव्यस्य) हुए और होने वाले जगत् के (ईशानम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को (वेद) जानता है (ततः) उससे (न, विजुगुप्सते) भय को प्राप्त नहीं होता (एतत्, वै, तत्) यही वह (ब्रह्म) है ।।५।।

जीवात्मा (यः) जो (अद्भ्यः) पंचभूतों से (पूर्वम्) पहले (अजायत) प्रकट हुआ (तपसः) प्रकाश=ज्ञान से भी (पूर्वम्) पहले (जातम्) उत्पन्न (गुहाम्) हृदयाकाश में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) पञ्चभूतों के साथ (तिष्ठन्तम्) स्थित परमात्मा को (व्यपश्यत्) देखता है (एतत्, वै, तत्) यही वह जीव है ।।६।।

(या) जो (देवतामयी) प्रकाशयुक्ता (अदितिः) अखण्डिता=बुद्धि (प्राणेन) प्राण के साथ (सम्भवति) उत्पन्न होती है और (या) जो (तिष्ठन्तीम्) ठहरे हुए (गुहाम्) अन्तःकरण में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) ५ भूतों=शरीरादि के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है (एतत्, वै, तत्) यही वह [ब्रह्मज्ञान का साधन बुद्धि] है ।।७।।

(जागृवद्भिः) ज्ञानियों (हविष्मद्भिः) कर्मकाण्डी (मनुष्येभिः) मनुष्यों से भी (अग्निः) परमात्मा (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों से (सुभृतः) अच्छे प्रकार रक्षित (गर्भः, इव) गर्भ के समान अथवा (अरण्योः) दोनों अरणियों में (निहितः) व्याप्त (जातवेदाः) अग्नि के (इव) समान (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति करने के योग्य है (एतत्, वै, तत्) यही वह [ब्रह्म] है ।।८।।

(यतः) जहां से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र, च) जहां (अस्तम्) अस्त (गच्छति) होता है (तम्) उस (परमात्मा) को (सर्वे, देवाः) सारे (सूर्यचन्द्रादि) देव (अर्पिताः) प्राप्त हैं (त, उत्) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लंघन नहीं कर सकता (एतत्, वै, तत्) यही वह [ब्रह्म] है ।।९।।

(यत्) जो ब्रह्म (इह) यहाँ है (तत्, एव) वह ही (अमुत्र) वहाँ=परलोक में है (यत्) जो (अमुत्र) वहाँ [परलोक में] है (तत्) वही (अनु, इह) यहाँ है (यः) जो (इह) इस [ब्रह्म] में (नाना, इव) भिन्नता की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (आप्नोति) प्राप्त होता है ।।१०।।

(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा, एव) मन [आन्तरिक साधनों] ही से (आप्तव्यम्) प्राप्त होने योग्य है, (इह) [ब्रह्म] में (नाना) भेदभाव (किञ्चन) कुछ भी (न अस्ति) नहीं है (यः) जो कोई (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) भिन्नता की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (गच्छति) प्राप्त होता है ।।११।।

(भूत, भव्यस्य) हुए और होने वाले (जगत्) का (ईशानः) अध्यक्ष (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (अंगुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाला (आत्मनि) जीवात्मा के (मध्ये) मध्य में (तिष्ठति) रहता है, (ततः) उस (के ज्ञान) से (न, विजुगुप्सते) कोई ग्लानि को नहीं पाता (एतत् वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ।।१२।।

(अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ मात्रा वाले हृदयाकाश में रहने वाला (पुरुषः) परिपूर्ण (ब्रह्म) (अधूमकः) धूम्र (विकार) रहित (ज्योतिः इव) ज्योति के समान (भूतभव्यस्य) हुए और होने वाले (संसार) का (ईशानः) स्वामी है (सः, एव) वही (अद्य) आज (सः, उ) वही (श्वः) कल है (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ।।१३।।

(यथा) जैसे (दुर्गे) विषम देश में (वृष्टम्) बरसा हुआ (उदकम्) जल (पर्वतेषु) नीची जगहों की ओर (विधावति) बहता है (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को (गुणी से) (पृथक्) पृथक् (पश्यन्) देखता हुआ (तान्, एव) उन्हीं गुणों के (अनु विधावति) पीछे दौड़ता है ।।१४।।

हे (गौतम) नचिकेता ! (यथा) जैसे (शुद्धे) स्वच्छ (सम) देश में (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जल (आसिक्तम्) सींचा हुआ (तादृक्, एव) वैसा ही (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) ज्ञानी (मुनेः) मननशील (मनुष्य) का (आत्मा) आत्मा (भवति) हो जाता है ।।१५।।

**व्याख्या**—इन उपनिषद्वाक्यों में ब्रह्म का निरूपण किया गया है जिनके भली-भाँति समझ लेने से ब्रह्म की कुछ महिमा समझी जा सकती है। उनका संक्षिप्त रीति से यहाँ वर्णन किया जाता है :—

जिसकी महिमा से मनुष्य जागृत और स्वप्न अवस्थाओं को बार-बार प्राप्त करता है उस महान् और व्यापक ब्रह्म को जानकर मनुष्य दुःखों से छूटता है ।।४।।

इस कर्मभोक्ता जीव के समीपवर्ती ब्रह्म को, जो समस्त भूत और भविष्यत् का स्वामी है, जानकर मनुष्य निर्भीक हो जाता है ।।५।।

जीवात्मा, जो भौतिक शरीर की उत्पत्ति से भी पहले से स्थित है, जब वह अन्तर्मुखी वृत्ति वाला होकर, हृदयस्थित परमात्मा को साक्षात् कर लेता है तो उसे प्रकट हो जाता है कि यही वह प्रिय देव है जिसका प्राप्त करना इष्ट था ॥६॥

जब योगी की ब्रह्मप्राप्ति की साधिका बुद्धि प्रकाशमयी और एकरस रहने वाली होकर हृदय में प्रकट होने वाली हो जाती है तभी वह आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने का कारण बन जाती है ॥७॥

अरणियों में अग्नि जिस प्रकार छिपी रहती है और जिस प्रकार माता गर्भ की रक्षा करती है उसी प्रकार ब्रह्म को हृदय में स्थित समझ और उसे अपना प्रेम पात्र बनाकर ज्ञानकांडी और कर्मकांडी, कोई क्यों न हो, प्रत्येक को, प्रतिदिन स्तुति करनी चाहिये ॥८॥

सूर्यादि का उदय अस्त होना ईश्वर की सत्ता के कारण है, ऐसे ब्रह्म का कोई उल्लंघन नही कर सकता ॥९॥

लोक-परलोक सब जगह एक ही ब्रह्म का साम्राज्य है। जो कोई एक जगह के ब्रह्म को एक और दूसरे स्थान के ब्रह्म को दूसरा समझता है, ऐसा अज्ञानी पुरुष मृत्यु के बन्धन से मुक्त नहीं होता ॥१०॥

वह ब्रह्म अन्तर्मुखी होने ही से प्राप्त होता है। उसमें किसी को भिन्नता (देखो श्लोक १०) नहीं देखनी चाहिये ॥११॥

अंगूठे के बराबर मात्रा वाले हृदयाकाश में स्थित जीव के मध्य ब्रह्म का निवास है (अर्थात् यही स्थान है जहां ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ करता है)। उस ब्रह्म ज्ञान को पाकर मनुष्य सदैव प्रसन्न रहता है ॥१२॥

उपर्युक्त अंगुष्ठ मात्रा वाले हृदय में रहने वाला विकाररहित ज्योति के सदृश ब्रह्म सबका स्वामी और सदैव एकरस रहने वाला हैं ॥१३॥

गुण और गुणी में समवाय (नित्य) सम्बन्ध होता है अर्थात् गुणी से गुण और गुण से गुणी पृथक् नहीं हो सकता। इसी नियम के अनुसार ईश्वर के जगरचना आदि गुण भी ईश्वर से पृथक् नहीं हो सकते। जहां जगरचना आदि गुण हों वहां ईश्वर की सत्ता मानना अनिवार्य है। परन्तु जो ईश्वर के गुण (धर्म) जगरचना आदि को तो मानते हैं और स्वीकार करते हैं किन्तु रचा हुआ जगत् मौजूद है परन्तु उसके रचयिता की सत्ता स्वीकार नहीं करते, उपनिषद् कहती है कि ऐसे लोग उन धर्मों के पीछे दौड़ते अर्थात् जगत् में ही भटकते रहते हैं ॥१४॥

जल जिस स्थान में होता है उसी के सदृश दिखाई दिया करता है। यदि गोल हौज में है तो गोल, यदि विषमकोण सरोवर में है तो वैसा ही होकर दिखाई दिया करता है। यम नचिकेता से कहता है कि इसी प्रकार समता-प्राप्त ज्ञानी का आत्मा हो जाया करता है ॥१५॥

॥ चतुर्थ वल्ली समाप्त ॥

# पंचम वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते एतद्वै तत् ।।१।।

अर्थः—(अवक्र-चेतसः) सरल चित्त वाले (अजस्य) अनुत्पन्न=जीवात्मा के (एकादश द्वारम्) ग्यारह द्वार वाले (पुरम्) नगर (शरीर) को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न, शोचति) नहीं सोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुआ (विमुच्यते) छूट जाता है (एतत्, वै, तत्) यही वह जीव है ।।१।।

व्याख्या—इस शरीर को कहीं नव द्वारवाला और कहीं ग्यारह (११) द्वारवाला कहा जाता है। यहां ११ द्वार वाला कहा गया है (१ सिर+२आंख+२ कान+२नासिका छिद्र+१मुंह+१ नाभि+१ मल+१ मूत्र स्थान—ये ११ द्वार हैं)। जिस समय मनुष्य इस शरीर का सदुपयोग करता है, अर्थात् बुद्धि को सरल, मन को शुद्ध और चित्त को चंचलता रहित बनाकर समस्त इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखता है तब यह शरीर मनुष्य के लिये सुख का साधन[1] बनता है और ऐसे शरीर को उपरोक्त प्रकार से अनुष्ठान करते हुए जब वह छोड़ता है तो समस्त दुःखों से छूट कर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर भी मुक्ति का असाक्षात् साधन है ।।१।।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्ष-
सद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ।।२।।
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।।३।।
अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ।।
एतद्वै तत् ।।४।।

---

१. "सुख" दो शब्द सु+ख से मिलकर बना है। सु=अच्छा+ख=इन्द्रियाँ अर्थात् 'सुख' नाम ही अच्छी इन्द्रियों का है। इसी प्रकार दुःख (दुः=बुरी+ख=इन्द्रिय) बुरी इन्द्रियों को कहते हैं।

# पंचम वल्ली

**पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।**
**अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते एतद्वै तत् ॥१॥**

अर्थः—(अवक्र-चेतसः) सरल चित्त वाले (अजस्य) अनुत्पन्न=जीवात्मा के (एकादश द्वारम्) ग्यारह द्वार वाले (पुरम्) नगर (शरीर) को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न, शोचति) नहीं सोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुआ (विमुच्यते) छूट जाता है (एतत्, वै, तत्) यही वह जीव है ॥१॥

**व्याख्या**—इस शरीर को कहीं नव द्वारवाला और कहीं ग्यारह (११) द्वारवाला कहा जाता है। यहां ११ द्वार वाला कहा गया है (१ सिर+२आंख+२ कान+२नासिका छिद्र+१मुंह+१ नाभि+१ मल+१ मूत्र स्थान—ये ११ द्वार हैं)। जिस समय मनुष्य इस शरीर का सदुपयोग करता है, अर्थात् बुद्धि को सरल, मन को शुद्ध और चित्त को चंचलता रहित बनाकर समस्त इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखता है तब यह शरीर मनुष्य के लिये सुख का साधन[1] बनता है और ऐसे शरीर को उपरोक्त प्रकार से अनुष्ठान करते हुए जब वह छोड़ता है तो समस्त दुःखों से छूट कर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर भी मुक्ति का असाक्षात् साधन है ॥१॥

**हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्ष-**
**सद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।**
**नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा**
**गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥२॥**
**ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।**
**मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥**
**अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।**
**देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥**
**एतद्वै तत् ॥४॥**

1. "सुख" दो शब्द सु+ख से मिलकर बना है। सु=अच्छा+ख=इन्द्रियां अर्थात् 'सुख' नाम ही अच्छी इन्द्रियों का है। इसी प्रकार दुःख (दुः=बुरी+ख=इन्द्रिय) बुरी इन्द्रियों को कहते हैं।



**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।**
**इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥**

अर्थ—(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीव, (शुचिषद्) शुद्ध देश में स्थित, (वसुः) (योनियों में) वास करने वाला, (अन्तरिक्षसद्) अन्तरिक्ष में रहने वाला (होता) यज्ञकर्ता (वेदिषत्) स्थलचारी, (अतिथिः) अतिथि के सदृश कुछ समय के लिए आने वाला, (दुरोणसत्) कुटी में रहने वाला, (नृषत्) मनुष्य शरीरधारी, (वरसत्) श्रेष्ठ शरीरधारी, (ऋतुसत्) नियम में रहने वाला, (व्योमसत्) आकाश में रहने वाला, (अब्जाः) जलचर, (गोजाः) पृथ्वी में उत्पन्न होने वाला (वृक्षादि), (ऋतजाः) नियम से उत्पन्न होने वाला (अद्रिजाः) पर्वतों में उत्पन्न होने वाला, (ऋतम्, बृहत्) मर्यादाशील है ॥२॥

(जो साधक) (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उन्नयति) ले जाता है, (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) नीचे (अस्यति) फेंकता है (मध्ये) बीच (हृदयाकाश) में (आसीनम्) स्थित (वामनम्) श्रेष्ठ जीव को (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) इन्द्रियां और प्राण (उपासते) सेवन करते हैं ॥३॥

(अस्य) इस (शरीरस्य) शरीर में रहने वाले (देहिनः) आत्मा के (विस्रंसमानस्य) विध्वंस होते हुए (देहात्) शरीर से (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुए (अत्र) यहां (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है (एतत्, वै, तत्) यही जीव है ॥४॥

(कश्चन) कोई भी मनुष्य (न प्राणेन) न प्राण से और (न अपानेन) न अपान से (जीवति) जीता है (तु) किन्तु (इतरेण) इन दोनों से भिन्न जीव के कारण (जीवन्ति) जीते हैं (यस्मिन्) जिस जीव के (एतौ) ये दोनों (उपाश्रितौ) आश्रित हैं ॥५॥

**व्याख्या**—इन चार वाक्यों में जीवात्मा का वर्णन है। आवागमन में रहकर जीव अपने कर्मफलानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जाया करता है। जीव जहां-जहां जाकर रहा करता है उनमें से कुछेक के नाम इस वाक्य में गिनाये गए हैं। यहां जीव को हंस दो दृष्टि से कहा गया है: (१) जीव भी हंस की तरह एक जगह से दूसरी जगह जाया करता है, (२) हंस जिस प्रकार कवियों के कथनानुसार दुग्ध-मिश्रित जल से दुग्ध पृथक् कर लिया करता है इसी प्रकार जीव भी प्रकृति रूपी जल से ब्रह्म-रूपी दुग्ध को पृथक् करके हंस ही नहीं, किन्तु परमहंस कहलाया करता है ॥१॥

1. एक कवि ने कहा है—'सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ।' अर्थात् जैसे जल में से हंस दुग्ध निकाल लेता है इसी प्रकार बुद्धिमान् सार ग्रहण करके (फल्गु) सारहीन वस्तु को छोड़ देता है।

(२) जीव प्राण और अपान से काम लेता हुआ शरीर के मध्य में रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियां उसकी आज्ञाओं का पालन करती हैं ॥२॥[1]

(३) जीव के शरीर छोड़ देने के बाद वह शरीर निकम्मा रह जाता है।

(४) शरीर में जीव के आश्रित प्राण और अपान रहते हैं और शरीर में जीव के रहने ही से उनका (तथा अन्य इन्द्रियों का) जीवन रहता है।[2]

नोट:—यहां यद्यपि प्राण और अपान दो ही कहे गये हैं परन्तु मुख्य प्राण १० हैं:—(१) प्राण=रेचक, (२) अपान=पूरक, (३) समान=शरीर में रस पहुँचाना, (४) उदान=कण्ठ से अन्नपान खींचना, (५) व्यान=समस्त शरीर में रक्त संचारक, (६) नाग=अनिच्छित कै तथा दस्त का साधक (७) कूर्म्म=पलक मारने आदि का कारण (८) कृकल=भोजन तथा पान की इच्छा से सम्बन्धित (९) देवदत्त=जम्हाई आदि का हेतु (१०) धनञ्जय=मूर्च्छा, बेसुध होना, सोना तथा खर्राटा लेने का कारण। एक जगह लिखा भी है:—

**नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयरूपाः पञ्च वायवः। एतेषां कर्माणि च यथाक्रमं उद्गारोन्मीलनक्षुधाजननविजृम्भणमोहरूपाणि।**

(संगीत दर्पण अध्याय १ श्लोक ४३-४८ Raja Surindra Mohau Tagore's Edition)

**हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।**
**यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥**
**योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।**
**स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥**

अर्थः—(गौतम) नचिकेता! (हन्त) प्रसन्नतापूर्वक (ते) तेरे लिये (इदम्) इस (गुह्यम्) अप्रकट (सनातनम्) अनादि (ब्रह्म) विद्या को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा (च) और (यथा) जैसे (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है ॥६॥

(अन्ये) कोई (देहिनः) जीव (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिए (योनिम्) जंगम योनियों को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) और कोई (स्थाणुम्)

---

१. यह वाक्य यजुर्वेद का मन्त्र है और उस वेद में दो जगह १०।२४, १२।१४ में आया है।

२. जीव का २४ प्रकार का सामर्थ्य है:—(१) बल, (२) पराक्रम, (३) आकर्षण, (४) प्रेरणा, (५) गति, (६) भीषण, (७) विवेचन, (८) क्रिया, (९) उत्साह, (१०) स्मरण, (११) निश्चय, (१२) इच्छा, (१३) प्रेम, (१४) द्वेष, (१५) संयोग, (१६) विभाग, (१७) संयोजक, (१८) विभाजक, (१९) भाषण (२०) स्पर्शन, (२१) दर्शन, (२२) स्वादन, (२३) गन्धग्रहण, (२४) ज्ञान।



स्थावर योनियों को (अनुसंयन्ति) जाते हैं (यथाकर्म) अपने-अपने कर्म (यथाश्रुतम्) अपने-अपने ज्ञान के अनुसार ॥७॥

व्याख्या—इतनी भूमिका के बाद यम अब नचिकेता के तीसरे प्रश्न का उत्तर देता है। नचिकेता का तीसरा प्रश्न यह था कि मरने के बाद जीव बाकी रहता है या शरीर के साथ ही वह भी नष्ट हो जाता है? इसका उत्तर यम ने दिया कि मरने के बाद जीव अपने कर्मानुसार जंगम और स्थावर योनियों को प्राप्त हुआ करता है, अर्थात् बाकी रहता है। शरीर के साथ नष्ट नहीं हो जाता।

**य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।**
**तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।**
**तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन**
**एतद्वै तत् ॥८॥**

अर्थ—(यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) सब में व्याप्त (परमेश्वर) (कामं कामं) यथेच्छ (निर्मिमाणः) (ब्रह्मांड को) रचता हुए (सुप्तेषु) सोये हुए (जीवों में) (जागर्ति) जागता है (तात्, एव) वही (शुक्रम्) पवित्र (तद् ब्रह्म) वही सब में बड़ा (तत्, एव) वही (अमृतम्) अमर (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उसी (ब्रह्म) में (सर्वे लोकाः) सब लोक (श्रिताः) ठहरे हुए (तत् उ) उसका (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लंघन नहीं कर सकता (एतत्, वै तत्) यही वह ब्रह्म है।

व्याख्या—मनुष्य चाहे सो हो जाय, मूर्छित हो जाय अथवा और किसी प्रकार से अपने होश में न रहे तब भी उसके शरीर में व्यापक ईश्वर जागता रहता है और यथेच्छ रचना करता रहता है। यही शुक्र, ब्रह्म और अमृत है, समस्त ब्रह्मांड उसी के आश्रित हैं। कोई भी प्राणी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता।

**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥**
**वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥**
**सूर्यो यथा सर्वलोकस्य**
**चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा**
**न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥९, १०, ११॥**

अर्थः—(यथा) जैसे (एकः, अग्निः) एक अग्नि (भुवनम्) लोक-लोक में (प्रविष्टः) व्याप्त हुआ (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप

वाल (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः (एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सबका अन्तर्यामी परमात्मा (रूपम्, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) सदृश रूपवाला है (च) परन्तु (बहिः) वह इन सबसे पृथक् ही है ॥९॥

(यथा) जिस प्रकार (एकः वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) फैला हुआ (रूप रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब भूतों में व्यापक ईश्वर (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला है (च) किन्तु (बहिः) रहता वह सबसे पृथक् ही है ॥१०॥

(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) समग्र संसार की (चक्षुः) आँख है परन्तु (चाक्षुषैः) आंखों के (बाह्य दोषैः) बाह्य दोषों से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सबमें व्यापक परमात्मा (लोकदुःखेन) संसार के दुःख से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता किन्तु (बाह्यः) उनसे पृथक् ही रहता है ॥११॥

व्याख्या—उपनिषद् के इन तीन वाक्यों में ब्रह्म के व्यापकत्व का बड़ा सुन्दर वर्णन है:—अग्नि और वायु जगत् में परिपूर्ण हैं और यह जिस वस्तु के भीतर होते हैं उसी के आकार में दिखाई देते हैं। जैसे प्रकाश या वायु एक घर में हैं तो घर के आकारवत् ही दिखाई देते हैं यदि किसी पात्र घड़े आदि में हैं तो उसी की तरह नजर आने लगते हैं, इसी तरह से ब्रह्म जगत् में अपने व्यापकत्व से जिस-जिस वस्तु में रहता है उस-उस वस्तु के तुल्य रूप वाला होता है। परन्तु उस वस्तु से सदैव पृथक् रहता है। न ब्रह्म उसमें लिप्त होता है न वह वस्तु ब्रह्म में लिप्त हो सकती है। इसी न लिप्त होने की बात को स्पष्ट करने के लिए एक और उपमा दी गई है कि आंखों में देखने की योग्यता सूर्य से आती है। इसीलिए कहा गया है कि समस्त लोक का चक्षु होते हुए भी जिस प्रकार सूर्य्य आंखों के बाह्य विकारों से पृथक् रहता है उसी प्रकार जगत्पिता संसार की निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु में व्याप्त होते हुए भी, उसके समस्त विकारों से पृथक् रहता है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥



अर्थ—(एकः) एक (वशी) सबको वश में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सबका अन्तर्यामी (यः) जो (एकं रूपं) एक रूप वाली (प्रकृति) को (बहुधा) बहुत प्रकार का (करोति) करता है (ये) जो (धीराः) धीर पुरुष (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित [परमात्मा] को (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वतम्) चिरकाल तक रहने वाला (सुखम्) सुख [प्राप्त होता है] (इतरेषाम्, न) अन्यों को नहीं ॥१२॥

(नित्यानाम्) नित्य [पदार्थों] में (नित्यः) नित्य (चेतनानाम्) चेतनों में (चेतनः) चेतन (बहूनाम्) बहुतों में (एकः) एक है (यः) जो [जीवों के प्रति] (कामान्) कर्मफलों को (विदधाति) विधान करता=देता है (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित [परमात्मा] को (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वती) चिरस्थायिनी (शान्तिः) शान्ति प्राप्त होती है (इतरेषाम्, न) अन्यों को नहीं ॥१३॥

व्याख्या—उपनिषद् के इन वाक्यों में ईश्वर की सगुणोपासना[1] वर्णित है। इन वाक्यों में ईश्वर के सत्तात्मक गुणों का वर्णन है। इन वाक्यों में ईश्वर एक है, सबको वश में रखने वाला और समस्त भूतों में आत्मा के सदृश व्यापकत्व से मौजूद है, और एक प्रकृति से जगत् की असंख्य रचनायें करता है, नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है। ऐसे असंख्य गुणों से भूषित ईश्वर के गुणों को जब मुमुक्षु अपने हृदय में धारण कर लेता है और अन्तर्मुखी होकर आत्म-साक्षात् करता है तब उसे चिरकाल तक रहने वाला सुख और शान्ति प्राप्त होती है।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

अर्थ—जिस (परमम्) महान् (सुखम्) सुख (रूप परमात्मा) को (तत्) वह (एतत्) यह (इति) ऐसा है (अनिर्देश्यम्) अंगुली उठाकर बताने के अयोग्य (मन्यन्ते) मानते हैं (तम्) उसको (कथम्, नु) कैसे (विजानीयाम्) जानूं कि (उ) वह (किम्) किस प्रकार (भाति) प्रकाशित होता (वा) या (विभाति) प्रकाशित करता है ॥१५॥

---

१. निर्गुणोपासना इसी उपनिषद् के २-१५ में वर्णित है। वहाँ उस वाक्य की व्याख्या देखो।

(तत्र) उस (ब्रह्म) में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाशित होता (न, चन्द्रतारकम्) न चन्द्रमा और तारे (इमाः) और ये (विद्युतः) बिजली भी (न, भान्ति) वहाँ नहीं चमकती फिर (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि वहाँ (कुतः) कहां से [प्रकाशित हो सकती है] किन्तु (तम्) उस (एव) ही के (भान्तम्) प्रकाशित होने से (सर्वम्) ये सब [सूर्य्यादि] (अनुभाति) पीछे से प्रकाशित होते हैं (तस्य) उसके (भासा) प्रकाश से (इदम्) यह (सर्वम्) सब (विभाति) प्रकाशित होता है ।।१५।।

व्याख्या—ब्रह्म सम्बन्धी बहुत-सा उपदेश सुनने के बाद नचिकेता को यह सन्देह उत्पन्न होता है कि जब ईश्वर को निर्देश करके बतलाने के अयोग्य कहा जाता है तब यह कैसे माना जाय कि वह प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित करता है इस सन्देह के निवारणार्थ उत्तर देता है कि वहाँ (जहाँ ब्रह्म साक्षात् हुआ करता है) सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् और अग्नि का प्रकाश निष्फल है कुछ काम नहीं दे सकता इसलिये इनमें से किसी के प्रकाश में इसे [ईश्वर को] देखने की इच्छा करना व्यर्थ है। हकीकत यह है कि उसी के प्रकाशित होने और उसी के दिये प्रकाश से ये सूर्यादि प्रकाशित हुआ करते हैं। फिर उसी के दिये हुए थोड़े प्रकाश से किस प्रकार उस महान् और विलक्षण ज्योति-पुञ्ज को कोई देख सकता हैं ? किसी कवि ने बहुत अच्छा कहा है—

हम ससीम हैं सीमित साधन धर सकते हैं।
क्योंकर उनसे असीम की नाप तोल कर सकते हैं ।।

।। पञ्चमी वल्ली समाप्त ।।

# षष्ठी वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।।
एतद्वै तत् ।।

अर्थ—(ऊर्ध्व-) ऊपर (मूलः) जड़ और (अवाक्) नीचे को (शाखः) शाखा हैं जिसकी, ऐसा (एषः) यह (अश्वत्थः) कल ही कल ठहरने वाला [मनुष्य शरीर रूप] वृक्ष (सनातनः) [प्रवाह से] नित्य है। (तत्) उस [इस वृक्ष के रचयिता] को (एव) ही (शुक्रम्) जगत् का चैतन्य कारण (तद्) उसको (ब्रह्म) सबसे बड़ा (तत् एव) उसी को (अमृतम्) अमर (उच्यते) कहते हैं (तस्मिन्) उसी में (सर्वे) सब (लोकाः) लोक (श्रिताः) ठहरे हैं (कश्चन) कोई भी (तत्) उसका (न, अत्येति) उल्लंघन नहीं करता ।।१।।

व्याख्या—मनुष्य के शरीर में सिर जड़स्थानी है और हाथ पांव आदि शाखाओं के सदृश हैं। अर्थात् वृक्षों से मनुष्य शरीर की बनावट इस अंश में सर्वथा विपरीत है। इस वाक्य में इस शरीर को (अश्वत्थः) कल ही कल रहने वाला और साथ ही नित्य भी कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान मनुष्य शरीर तो स्पष्ट ही बहुत थोड़ी देर रहने वाला है परन्तु मनुष्ययोनि जो कि सृष्टि काल में बराबर बनी रहती है और प्रलय के बाद फिर प्रकट हो जाती है, नित्य है। इसी का नाम प्रवाह से नित्य होना है।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।२।।
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।।३।।
इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।।४।।

अर्थ—(यत्) जो (किञ्च) कुछ (जगत्) ब्रह्माण्ड है (इदम्) यह (सर्वम्) सब (प्राणे) परमात्मा में (एजति) गतिमान् है और उसी से (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ है, यह ब्रह्म (उद्यतम्, वज्रम्, इव) हाथ में लिये वज्र के सदृश (महत्) महान् (भयम्) भय वाला है (ये) जो मनुष्य (एतत्) इस (रहस्य) को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) मृत्यु के पार (भवन्ति) हो जाते हैं ।।२।।

(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से (अग्निः) अग्नि (तपति) जलती है (भयात्) भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) प्रकाशित होता है (च) और (भयात्) भय से ही (इन्द्रः) बिजली (च) और (वायुः) वायु [अपना-अपना काम करते हैं] और (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः) मृत्यु (धावति) दौड़ता=अपना काम करता है।

(चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहले (बोद्धुम्) [ब्रह्म को] जानने को (अशकत्) समर्थ हो [तो ठीक है, अन्यथा] (ततः) उस [न जानने से] (सर्वेषु) रचे हुए (लोकेषु) लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने [जन्म मरण के चक्र में आने] के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ।।४।।

**व्याख्या**—प्रथम के दो श्लोकों में यह प्रकट किया गया है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड, सर्वाधार होने से ब्रह्म के अन्तर्गत ही स्थित होता हुआ अपना कार्य कर रहा है, और इस जगत् के प्रत्येक कार्य में जो नियम पाया जाता है वह नियम ईश्वर-प्रदत्त है और इस नियम को ठीक रीति से चलाने के लिए ईश्वर मानो वज्र हाथ में लिये सदैव (नियम भंग करने वाले को दण्ड देने के लिए) तैयार रहता है। तीसरे श्लोक में मनुष्य को चेतावनी दी गई है कि यदि शरीर छूटने से पहले आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ न हुआ तो उसे जन्म-मरण के चक्र ही में रहना पड़ेगा । ईश्वरीय आज्ञायें दो प्रकार की होती हैं। एक वे जिन्हें ईश्वर माता, पिता तथा सखा के रूप में मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेश रूप में देता है। इनके सम्बन्ध में, कर्मस्वातंत्र्य के कारण ईश्वर प्रदत्त नियमानुसार मनुष्यों को अधिकार होता है कि चाहे उनका पालन करें या न करें। (२) दूसरी आज्ञा नियमरूप में होती है जो जगत् और जगत्-सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए जगत् में प्रचलित की जाती हैं। इन्हीं का नाम प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) है। ये नियम अटल होते हैं। इन्हें कोई नहीं तोड़ सकता और इन्हीं के लिये उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में (देखो श्लोक २, ३) कहा गया है कि पालन कराने के लिये ईश्वर मानो हाथ में वज्र लिये हुए के सदृश है।

**यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि**
**यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।**
**यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा**
**गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।।५।।**

अर्थ—(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में (तथा) वैसे (आत्मनि) शुद्ध अन्तःकरण में (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्न में (तथा) वैसे (पितृलोके) पितृलोक में (यथा) जैसे (अप्सु) जलों में (परीव) सब ओर से स्पष्ट (तथा) वैसे (गन्धर्वलोके) गन्धर्व लोक में (ददृशे) [आत्मा] देखा जाता है, (छायातपयोः) छाया और प्रकाश के (इव) समान (ब्रह्म लोके) ब्रह्मलोक में (देखा जाता है) ।।५।।



**व्याख्या**—आत्मज्ञानार्थ उत्तम कर्म करते हुए मनुष्य की प्रारम्भ से अन्त तक चार अवस्थाएं होती हैं—

१. श्रेष्ठ ज्ञान और कर्मों से उसने अपने अन्तःकरण को ऐसा बना लिया है जिसमें आत्मदर्शन कर सके।

२. सकाम कर्म करते हुए पितृलोक (चन्द्रलोक) अर्थात् दुःखरहित, मनुष्य-योनि में जाना, जिसमें जाना स्वर्ग-प्राप्ति कहा जा सके।

३. निष्काम कर्म करते हुए देवयान का पथिक बनकर सूर्य लोक को प्राप्त कर लेना।

४. अन्त में सूर्यलोक के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेना। इन चारों अवस्थाओं में मुमुक्षु परमात्म-दर्शन किस प्रकार करता है, इसी का विवरण इस उपनिषद्वाक्य में दिया गया है—

१. शुद्ध अन्तःकरण में, आईने में शक्ल देखने के सदृश,

२. पितृलोक में स्वप्न की वस्तु देखने के सदृश,

३. सूर्यलोक में जल में रूप देखने की तरह और

४. ब्रह्मलोक में स्पष्ट। इस प्रकार से पृथक् ब्रह्म को देखता है जिस प्रकार छाया से पृथक् प्रकाश हुआ करता है। ब्रह्मलोक अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति की विशेषता है।

**इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।**
**पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ।।६।।**

अर्थ—(पृथक्, उत्पद्यमानानाम्) पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (पृथक् भावम्) पृथक् भाव को (च) और (यत्) जो उनके (उदय-अस्तमयौ) उदय (प्रारम्भ) और अस्त (अन्त) है इनको (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकी पुरुष (न, शोचति) शोक नहीं करता ।।६।।

**व्याख्या**—इन्द्रियां बहिर्मुखी वृत्ति के साधन हैं। इनके द्वारा इनके विषय की ओर मनुष्य जा सकता है। इसलिए कहा गया है कि जो मनुष्य इन्द्रियों के आत्मा से पृथक्त्व और इन्द्रियों के उदय और अस्त अर्थात् इनके नाशवान् और उनके द्वारा प्राप्त विषयसुख के क्षणिक होने की हकीकत को समझ लेता है वह दुःखों से छूट जाता है।

**इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।**
**सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।।७।।**
**अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।**
**यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।।८।।**

अर्थ—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है, (मनसः) मन से (सत्त्वम्) बुद्धि (उत्तमम्) श्रेष्ठ है (सत्त्वात् अधि) बुद्धि से सूक्ष्म (उसका

कारण) (महानात्मा) महत्तत्त्व (महतः) महत्तत्त्व से (अव्यक्तम्) अप्रकट (प्रकृति) उत्तमम्—उत्तम है ॥७॥

(अव्यक्तात्) अप्रकट प्रकृति से (तु) निश्चय (व्यापकः) व्यापक (च) और (अलिंगः) चिह्न रहित—निराकार (पुरुषः) (एक मात्र) ईश्वर (एव) ही (परः) सूक्ष्म है (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (जन्तुः) प्राणी (दुःखों से) (मुच्यते) छूट जाता है (च) और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥८॥

व्याख्या—ये उपनिषद्वाक्य इससे पहले ३,१०,११, में आए हुए भावों को ही प्रकट करते हैं। इनमें कहा गया है कि मनुष्य को अपने अन्तिम ध्येय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर आत्मा की ओर चलना चाहिए—इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म उसका कारण महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति (कारण शरीर) और प्रकृति से सूक्ष्म व्यापक ओर निराकार ईश्वर है। जब मनुष्य क्रमशः उपर्युक्त भांति भीतर चलते हुए अन्त में जाकर ईश्वर को साक्षात् कर लेता हैं तब आवागमन के बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

अर्थ—(अस्य) इस (ब्रह्म) के (संदृशे) समक्ष में (रूपम्) कोई रूप (न तिष्ठति) नहीं ठहरता (एनम्) इसको (कश्चन) कोई भी (चक्षुषा) आंख से (न, पश्यति) नहीं देखता (हृदा) हृदयस्थ (मनीषा) मनन करने वाली (मनसा) बुद्धि से (अभिक्लृप्तः) प्रकाशित होता है (ये) जो कोई (एतत्) इस (रहस्य) को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥९॥

व्याख्या—प्रभु के दर्शन के लिए हृदय के पटल खुलने चाहियें—इन बाह्य आंखों से उसका रूप नहीं देखा जा सकता। वह प्रत्येक जगह मौजूद है। जहाँ भी मनुष्य उसे हृदय की आंखों से देखना चाहता है, देखकर तृप्त हो जाता है। बाह्य आंखों का वह विषय नहीं है इसलिये इनसे देखने की इच्छा व्यर्थ है। एक कवि ने बहुत अच्छा कहा है —

नकाब[1] दूर है हरचन्द रूए[2] लैला से।
कहाँ से लाये मगर कोई दीदए मजनूँ ॥

अर्थात् यद्यपि लैला के मुंह पर परदा नहीं है परन्तु देखने के लिए तो मजनूँ की आंखें चाहिएं।

---

१ परदा, घूंघट। २. रूप, मुंह।

**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।**
**बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥**

अर्थ—(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) पांच ज्ञानेन्द्रियां (मनसा) मन के (सह) साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न, विचेष्टते) चेष्ट नहीं करती (ताम्) उसको (परमां गतिम्) परम गति=जीवनमुक्तावस्था (आहुः) कहते हैं ॥१०॥

व्याख्या—इन्द्रियों का मन के साथ, अपना अपना काम छोड़कर ठहर जाना बहिर्मुखी वृत्ति का बन्द हो जाना और अन्तर्मुखी वृत्ति का जागृत हो जाना है। इसी अवस्था का नाम उपनिषद् के शब्दों में परमगति है। परन्तु जब तक बहिर्मुखता बन्द नहीं होती, जिज्ञासु अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। कबीर ने इस उच्चभाव को अपने मोटे शब्दों में, इस प्रकार प्रकट किया है:—'भीतर के पट जब खुलें बाहर के हों बन्द।'

**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥**

अर्थ—(स्थिराम्) स्थिरता से (ताम्) उस (इन्द्रिय-धारणाम्) इन्द्रियों के रोकने को (योगम्, इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (तदा) तब योगी (अप्रमतः) प्रमादरहित (भवति) होता है (हि) निश्चय (योगः) योग (प्रभवाप्ययौ) [शुद्ध संस्कारों का] उत्पन्न और [अशुभ संस्कारों का] अन्त करने वाला है ॥११॥

व्याख्या—योग की कार्य प्रणाली यह है कि प्रथम अभ्यासी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोककर चित्त को एकाग्र करे। इस एकाग्रता की उपलब्धि से योगी चुस्त और आलस्य-रहित हो जाता है। इस चित्त की एकाग्रता के बाद जब योगी चित्त के निरोध का यत्न करता है तो अभ्यास करने से उसके अन्दर 'ऋतम्भरा' बुद्धि की उत्पत्ति होती है[१]। इस बुद्धि से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह अन्य संस्कारों को नाश कर देता है परन्तु स्वयं बना रहता है[२] जब अन्त में यह संस्कार भी नष्ट हो जाता है तब योग की अन्तिम (चित्त की निरुद्ध) अवस्था प्राप्त होकर योगी को कृत-कृत्य कर देती है[३]। उपनिषद् के इस वाक्य में (प्रभवाप्ययौ) शब्द से ऋतम्भरा की उत्पत्ति और उससे अन्य संस्कारों के नष्ट होने का संकेत किया गया है।

**नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।**
**अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥**

---

१—योगदर्शन १।४८
२— " १।५०
३— " १।५१

**अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।**
**अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥**

अर्थ—(न, वाचा) न वाणी से (न, मनसा) न मन से (न, एव) न ही (चक्षुषा) आंख से (प्राप्तुम्) प्राप्त होने (शक्यः) योग्य है (अस्ति, इति) है, ऐसा (ब्रुवतः) कहते हुए (अन्यत्र) और कहां (तत्) वह (कथम्) क्यों कर (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ॥१२॥

(उभयोः) [अस्ति, नास्ति] इन दोनों में (तत्त्वभावेन) तत्त्व की भावना से (अस्ति) है (इति) ऐसा (एव) ही (उपलब्धव्यः) जानने योग्य है (अस्ति, इति, एव) है, ऐसा ही (उपलब्धस्य) जानने वाले का (तत्त्व-भावः) तत्त्वभाव[1] (प्रसीदति) प्रसन्न होता है ॥१३॥

**व्याख्या**—यहां तक पहुँचने के बाद नचिकेता को फिर एक सन्देह उत्पन्न होता है और यमाचार्य उसको निवृत्त करते हैं।

शंका—जब ईश्वर वाणी, मन, चक्षु (आदि किसी भी इन्द्रिय) से प्राप्त नहीं हो सकता तो फिर उसकी सत्ता स्वीकार करके उसे किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?

समाधान—अस्ति और नास्ति इन दोनों में से ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में अस्ति कहने वाले ही की बुद्धि आदि निर्मल होकर उसकी प्राप्ति का साधन बन जाती है।

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।**
**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥**
**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदस्येह ग्रन्थयः ।**
**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥**

अर्थ—(यदा) जब (सर्वे) सब (कामाः) वासनायें (ये) जो (अस्य) इस पुरुष के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) रहती हैं (प्रमुच्यन्ते) छूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (अत्र) और (ब्रह्म) ब्रह्म को (समश्नुते) प्राप्त होता है ॥१४॥

(यदा) जब (इह) यहां (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे) सब (ग्रन्थयः) गांठें (प्रभिद्यन्ते) खुल जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) हो जाता है (एतावत्) इतना ही (अनुशासनम्) [शास्त्र का] उपदेश है ॥१५॥

**व्याख्या**—उपनिषद् को समाप्त करते हुए अन्त की बातें ही अन्त में कही जाती हैं:—

---

१. शरीर, इन्द्रिय और आत्मा का समूह 'तत्त्वभाव' शब्द से अभिप्रेत है।

जब चित्त के आश्रित वासनायें नष्ट हो जाती हैं और मनुष्य निष्काम हो जाता है तब मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर ईश्वर को प्राप्त कर लिया करता है। उपनिषद् कहती है कि शास्त्र इतना ही उपदेश कर सकता है। अर्थात् यह शास्त्र का उपदेश किस प्रकार सार्थक हो सकता है इसके लिए जिज्ञासु को विशेषज्ञों का सहारा पकड़ना चाहिए। यह बतलाना शास्त्र की सीमा से बाहर की बात है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृता ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

अर्थ—(हृदयस्य) हृदय की (शतम् एका च) एक सौ एक (नाड्यः) नाड़ियां हैं (तासाम्) उनमें से (एका) एक (मूर्द्धानम्) मस्तिष्क में (अभिनिःसृता) जा निकली है (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) ऊपर से (आयन्) निकलता हुआ [जीवात्मा] (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है (अन्याः) (अन्य) (१०० नाड़ियों द्वारा प्राण के साथ) (उत्क्रमणे) निकलने पर (विष्वङ्) विविध (गति) (भवन्ति) होती हैं ॥१६॥

व्याख्या—जब मनुष्य उपनिषद् में दी हुई शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करके जीवन्मुक्त हो जाता है तब उसका आत्मा इस शरीर से किस प्रकार निकलता है यह बतलाया जाता है—

हृदय से निकल कर जो १०१ नाड़ियां समस्त शरीर में फैलती हैं उनमें से एक सुषुम्णा नाम वाली नाड़ी, जो शरीर में इड़ा और पिंगला के मध्य रहती है, मूर्धा में जा निकलती है। मुक्त जीव का आत्मा इसी नाड़ी के द्वारा शरीर से निकल कर देवयान (मोक्षमार्ग) का पथिक बन जाता है। और जो प्राणी ऐसे हैं कि उन्हें मुक्ति से भिन्न फल प्राप्त होने वाले हैं उनका जीव इस (सुषुम्णा) नाड़ी से नहीं निकलता, किन्तु शरीर के दूसरे छिद्रों से निकल जाया करता है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अर्थ—(अन्तरात्मा) शरीर के भीतर (पुरुषः) जीव (अंगुष्ठ मात्रः) अंगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाला (सदा) सदैव (जनानाम्) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) प्रविष्ट है (तम्) उसका (धैर्येण) धैर्य से (मुञ्जात्) मूञ्ज से (ईषीकाम्) सींक की (इव) तरह (स्वात्) अपने (शरीरात्) शरीर से

(प्रवृहेत्) निकाले (तम्) उसको (अमृतम्) न मरने वाला (शुक्रम्) पवित्र (विद्यात्) जाने ।।१७।।

**व्याख्या**—मुक्त जीव के लिए यह शिक्षा दी गई है कि जीवात्मा को, जो सदैव अंगूठे की मात्रा वाले हृदयाकाश में रहा करता है, इस शरीर से, जिस प्रकार मंज में से तीली (सींक) निकाली जाती है उसी प्रकार धैर्य के साथ इस शरीर से निकाले और उस जीव को पवित्र और अमर समझे क्योंकि यह कहा गया है कि यह उपदेश केवल मुक्त जीवों के लिए है, इसका कारण यह है कि केवल मुक्तजीव ही का अधिकार है कि अपने आत्मा को अधिकार के साथ शरीर से निकाल सके । अन्य गतियों को प्राप्त प्राणियों के जीव को सूक्ष्म शरीर के बन्धन में होकर उसी के साथ निकलना पड़ता है । अस्तु, उपनिषद्वाक्य के अन्तिम वाक्य का दुबारा पाठ ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है ।

**मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा**
**विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम् ।**
**ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-**
**रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।।१८।।**

अर्थ—(अथ) यह (मृत्युप्रोक्ताम्) मृत्यु से कही गई (एतां) इस (विद्याम्) विद्या को (च) और (कृत्स्नम्) समस्त (योगविधिम्) योग विधि को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (नचिकेत:) नचिकेता (ब्रह्म प्राप्त:) ब्रह्म को प्राप्त हुआ और (विरज:) निर्मल (विमृत्यु:) मृत्युभय से रहित (अभूत्) हुआ (अन्य:) अन्य (अपि) भी (य:) जो (अध्यात्मम्, एव) आत्मा सम्बन्धी विद्या को (एवं, विद्) इस प्रकार जानता है (मुक्त हो जाता है) ।।१८।।

**व्याख्या**—उपनिषद् को समाप्त करने के बाद फलश्रुति के तौर पर उपनिषत्कार लिखते हैं कि यम के उपदेश को नचिकेता ने ग्रहण कर और उसके अनुकूल आचरण कर पापरहित होकर ब्रह्म को प्राप्त किया, अन्य नर-नारी भी जो इस उपदेश के अनुकूल आचरण करेंगे ब्रह्म को प्राप्त कर सकेंगे ।

**।। षष्ठी वल्ली तथा ग्रन्थ समाप्त ।।**

गुरुकुल कांगड़ी फार्मसी, हरिद्वार की
औषधियां प्रयोग करें

# गुरुकुल कासारि

**खाँसी की अपूर्व गुणकारी औषधि**

उपयोग किसी भी कारण से हुई खाँसी, नजला, जुकाम आदि में लाभदायक है।
सेवन विधि दिन में तीन बार छोटी चम्मच लेकर उंगली से चाटें।

आँखों के अनेक रोगों के लिए

# भीमसेनी सुरमा

# च्यवनप्राश

**उत्तम स्वादिष्ट रसायन**

शरीर को बलिष्ठ और कान्तिमय बनाता है।

शारीरिक क्षीणता एवं फेंफड़ों के लिए प्रसिद्ध
आयुर्वेद रसायन

पो० गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी (सहारनपुर)
शाखा कार्यालय—६३ गली राजा केदारनाथ
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६ फोन नं० २६१४३८

# सुन्दर फरनीचर का प्रगतिशील नाम

## डिलाईट

वर्षा उपवन व औरकार्यकुशलता के कारण आज डिलाईटपक्की अलमारियां और फर्नीचर सारे भारत में प्रसिद्ध हैं क्योंकि यह देखने में सुन्दर, मजबूत, टिकाऊ और पक्क गां में उपलब्ध हैं। दुकान हो या घर, विवाह हो या कोई शुभ अवसर, यह सबका शोभा बढ़ाता है।

आप भी आज डिलाईट फरनीचर खरीद कर अपने घर, आफित व दुकान की शोभा बढ़ावें और आनन्द पावें।


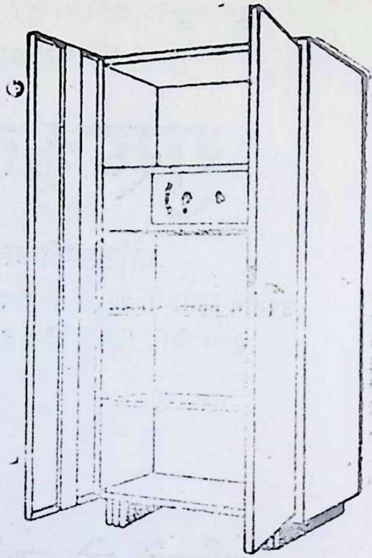

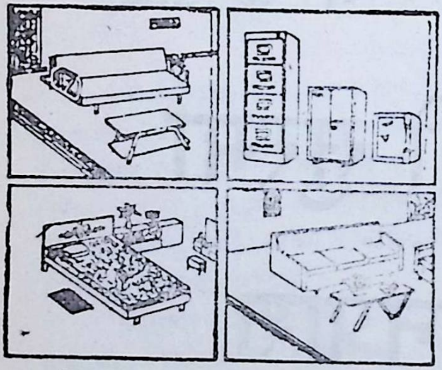

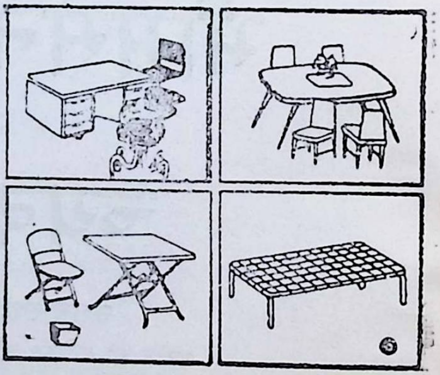


**डिलाईट सेफ वर्क्स**

**फुतुब रोड, दिल्ली-६. फोन 511380**

**विक्रेता**

१ काटेज स्टोर २० विनय नगर मार्कीट, नई दिल्ली।

२. काश्मीर क्राकरी हाऊस, लक्कड़ बाजार, लुधियाना।

३. मित्तल ब्रादर्स, सिरकी बाजार, भटिण्डा। ४. निहालचन्द गोपालदास, अबोहर।

५. महेन्द्रा ब्रादर्स, कोर्ट रोड, मोगा।

६. जैम सेलस कार्पोरेशन, सेक्टर ७-सी दु० नं० ३० मध्य मार्ग, चण्डीगढ़।

७. हरयाणा आयरन एण्ड स्टील इण्डस्ट्रीज, बाजार हिसारिया, सिरसा।

८. लीला इलैक्ट्रिक कं०, ७० कोतवाली रोड, श्री गंगानगर (राज०)।

९. राणा इण्डस्ट्रीज, लाडपुरा बाजार, कोटा (राज०)

१०. आदर्श इलैक्ट्रिक एण्ड जनरल सप्लायर्ज नैकाओली, नीमच (म० प्र०)।

११. ओवरसीज ट्रेड एजेन्सीज, केसरगंज, अजमेर।

# जन-ज्ञान के सदस्यों को दीपमाला पर १००) का उपहार

| | | |
|---|---|---|
| १— | वेदांजलि | १५) |
| २— | दयानन्द चित्र दर्शन | २०) |
| ३— | वेदामृत | ८) |
| ४— | वन्दना के स्वर | १५) |
| ५— | वेद ज्योति | ६) |
| ६— | श्रीमद्दयानन्द प्रकाश | ८) |
| ७— | सत्यार्थ-प्रकाश | ८) |
| ८— | कवर ४ | १४) |
| ९— | उपदेश मंजरी | २) |
| १०— | अन्य पुस्तकें | ४) |

आज ही २१५) भेजकर वेद भाष्य का सदस्य बनें या बनाएं और १००) का उपहार मुफ्त प्राप्त करें—एक सदस्य को एक ही उपहार मिलेगा।

कूपन : १००) का

## जन-ज्ञान के सदस्य

सदस्य संख्या...

## वेद भाष्य के सदस्य

२१५) भेजकर वेदभाष्य व १००) का साहित्य मुफ्त

२५-१०-७६ तक

आदेश के साथ कूपन भेजें

क्या आप को

# सत्यार्थ-प्रकाश पर श्रद्धा है ?

यदि उत्तर हाँ में है तो

**दीपमाला पर व्यक्तिगत रूप से ५ सत्यार्थ-प्रकाश नए व्यक्तियों को दीजिए**

कोई आर्यसमाजी ऐसा न हो जो दीपमाला पर २५-५०-१०० सत्यार्थ प्रकाश न बांटे--

१०० सत्यार्थ प्रकाश २०-१०-७६ तक मंगाने पर रेल-डाक-पैकिंग मुफ्त

रेट— २००), २५०), ३००), ३५०), ५००), ३१००) ६१००) रु०सकड़ा

## दयानन्द-संस्थान

३३७-ए सूर्यनगर पो० चिकम्बरपुर दिल्ली गाजियाबाद बार्डर

दिल्ली-३२ फोन : २०१५८४ ५६६६३९

# वैदिक साहित्य

| | | |
|---|---|---|
| १. | ऋग्वेद (१-१० मंडल) संपूर्ण | मूल्य १२५ रु० |
| २. | यजुर्वेद-सामवेद भाष्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती— आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री। | ७१) |
| ३. | अथर्ववेद भाषा भाष्य | ७१) |
| ४. | चारों वेद आर्ट पेपर प्रत्येक का मूल्य | १५१) |
| ५. | वेदों का यथार्थ स्वरूप | १०) |
| ६. | यजुर्वेद भाष्य | २५) |
| ७. | सामवेद (आध्यात्मिक भाष्य) | २५) |
| ८. | अथर्ववेदीय मंत्र विद्या | ७) |
| ९. | अथर्ववेद परिचय | ५) |
| १०. | अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र-स्वामी ब्रह्ममुनिजी | १०) |
| ११. | वैदिक सत्संग पद्धति | ६५ पैसे |
| १२. | वैदिक अर्थनीति —सातवलेकर जी | ४० पैसे |
| १३. | क्या वेद में मांसभक्षण का विधान है ? | १) |
| १४. | वेद और बाइबिल | १) |
| १५. | मोक्ष का वैदिक मार्ग | १) |
| १६. | वैदिक सिद्धांत [पं० यशःपाल] | ३) |
| १७. | वेदामृत (सजिल्द) पं० सातवलेकर | ८)-१०) |
| १८. | शतक-त्रयी | १रु० ५० पसे |
| १९. | ईशोपनिषद् [महात्मा नारायण स्वामी] | १) |
| २०. | उपनिषद्त्रयी | १)५० |
| २१. | शतपथ ब्राह्मण (प्रथम खण्ड) स्वामी समर्पणानन्द जी | २५) |
| २२. | बृहस्पति राजधर्म सूत्र | १) |
| २३. | जन-ज्ञान का शताब्दी विशेषांक (सजिल्द) | १०) |

## आध्यात्मिक साहित्य

| | | |
|---|---|---|
| २४. | गायत्री शतक [१०० गायत्री मंत्रों का भाष्य] | २ रु० |
| २५. | ईश्वर भक्ति [स्वामी सर्वदानन्द जी] | १)५० पैसे |
| २६. | माँ गायत्री, गायत्री महत्व पर अनमोल ग्रंथ | १)५० |
| २७. | धर्म का मार्ग —सुरेशचन्द्र विद्यालंकार | १) |
| २८. | अमृतपथ (सजिल्द) | ५ रु० |
| २९. | अध्यात्मयोग (सजिल्द) | ६) |
| ३०. | कल्याण मार्ग | २५ पैसे |
| ३१. | यज्ञ प्रसाद (महात्मा आनन्द स्वामी) | ६० पैसे |
| ३२. | संक्षिप्त महाभारत | १०) |
| ३३. | उपनिषद् कथा माला (महात्मा नारायण स्वामी) | १) |
| ३३अ | वेद ज्योति | (अजिल्द) ४), सजिल्द ६) |

# महर्षि दयानन्द कृत ग्रन्थ

**३४. सत्यार्थ प्रकाश**

| | |
|---|---|
| १. शताब्दी संस्करण —पुस्तक साइज़ | ३) |
| २. प्रचार संस्करण —बड़ा साइज़ | ४) |
| ३. राज संस्करण—बड़ा सजि़ल्द | ६) |
| ४. उपहार संस्करण कपड़े की जिल्द— | मूल्य ८) |
| ५. मोटे अक्षर का बड़ा सुनहरी जिल्द | ५१) |
| ६. सर्वश्रेष्ठ आर्ट पेपर पर | १०१) |

**३५. संस्कार विधिः** महर्षि दयानन्दकृत

| | |
|---|---|
| १. बड़ा साइज सजिल्द | ६) |
| २. बड़ा साइज अजिल्द | ४) |
| ३. छोटा साइज अजिल्द | ३) |
| ४. छोटा साइज सजिल्द | ४) |

| | |
|---|---|
| ३६. व्यवहार भानुः | ६० पैसे |
| ३७. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश | २० पैसे |
| ३८. मूर्ति पूजा की हानियाँ | २० पैसे |
| ३९. आर्योद्देश्यरत्नमाला | २० पैसे |

## स्वामी दयानन्द व आर्य समाज सम्बन्धी साहित्य

| | |
|---|---|
| ४०. स्वामी दयानन्द जीवन चरित्र (अजिल्द) | २) |
| ४०अ—स्वामी दयानन्द का जीवन चरित्र (सजिल्द) | ४) |
| ४१. स्वामी श्रद्धानन्द | १) |
| ४२. ज्योति स्तम्भ [आर्यनेताओं के सचित्र जीवन चरित्र] | ६) |
| ४३ आर्य क्रान्तिकारी | ३) |
| ४४. विश्व को आर्यसमाज का सन्देश | ३० पैसे |
| ४५. बोध रात्रि (महाकाव्य) | ६) |
| ४६. गीत मंजरी (नया तीसरा संस्करण) | २)५० |

## प्रचार पुस्तिकाएं

| | |
|---|---|
| ४७. आर्यसमाज क्या मानता है ? | २० पैसे |
| ४८. श्रद्धांजलियाँ | १)५० पैसे |
| ४९. महर्षि दयानन्द की विशेषताएं | २० पैसे |
| ५०. आर्यसमाज की विचारधारा | २० पैसे |
| ५१ आर्यसमाज की मान्यताएं | २० पैसे |
| ५२. विश्व को वेद का संदेश | २० पैसे |
| ५३. आर्यसमाज के दस नियम (व्याख्या सहित) | २० पैसे |
| ५४. निमन्त्रण आर्यसमाज का | २० पैसे |
| ५५. आर्यसमाज के १०० वर्ष | २० पैसे |
| ५६. सुख का मार्ग | २० पैसे |
| ५७. आर्य कौन ? | २० ” |
| ५८. वेद महिमा | २० पैसे |
| ५९. स्वास्थ्य का महान् शत्रु : अंडा | २० पैसे |

५६अ स्वामी जी की जीवनी २०पैसे उपनयन का महत्व २०पैसे

## अन्य उपयोगी साहित्य

| | | |
|---|---|---|
| ६०. | ऋषि दयानन्द ने कहा था | १)५० पैसे |
| ६१. | योगेश्वर कृष्ण | ६० पैसे |
| ६३. | आदर्श सुधारक दयानन्द | ६० पैसे |
| ६४. | दयानन्द चित्रकथा | ५० पैसे |
| ६५. | चार फल | ३० पैसे |
| ६६. | योग की राह पर | २५ पैसे |
| ६७. | वैदिक ज्ञान सुधा | १ रु० |
| ६८. | पातञ्जल योगशास्त्र | १) |
| ६९. | भारत की अवनति के सात कारण | ६०पैसे |
| ७०. | शक्ति रहस्य | १)५० |

## अंग्रेजी साहित्य

| | |
|---|---|
| 71—Light of Truth | Rs. 20.00 |
| 72—Life and Teachings of Swami Dayanand | Rs. 25.00 |
| 73—An Introduction to the commentary on the Vedas Paperbound Rs. 10.00 Cloth bound | Rs. 12.00 |
| 74—Teachings of Swami Dayanand | Rs. 1.50 |
| 75—Ten commandments | Rs. 1.50 |
| 76—Message of the Arya Samaj to the Universe | Paise. 50 |
| 77—Vedic—Prayer | Rs. 4.00 |
| 78—Dayanand the Great | Paise. 0.20 |
| 79—An Introduction to the Arya Samaj | Paise. 0.20 |
| 80 – Bible in the Balance | Paise. 20 |
| 81—A Challenge to the Christian Faith | Paise. 0.10 |
| 82—Vedic-Life | Rs. 4.00 |
| 83—Christianity and Vedas. | Rs. 2.00 |
| 84—What is yoga ? | Paise. 0.20 |
| 85—Man and his Religion | Rs. 1.50 |
| 86—A short life of Swami Dayanand Saraswati | Rs. 2.00 |
| 87—The Great Gayatri | Paise. 0.25 |
| 88—Vedic Fundamentals | Rs. 5.00 |
| 89—Essence of Vedic Religion | Paise. 0.20 |
| 90—The Fundamentals of the AryaSamj | Paise. 0.20 |
| 91—Whose wealth ? | Rs. 10.00 |
| 92—Dayanand'sOutline of Vedic Phios- ophy— cloth bound | Rs. 15.00 |
| 93—Yoga of Patanjali | Rs. 1.00 |
| 94-95—Ramayana | Rs.3.00 |
| 95—Agnihotra | Rs. 10.00 |
| 96—Krsishnayan | Rs. 1.00 |
| 97—Neotareal songs of the Vedas | Rs. 5.00 |

97A—Universal Patriotism Rs. 2.00
९८. प्रार्थना सुमन १) रु०
९९. वन्दना के स्वर १५)
१००. ब्रह्मकुमारी मत समीक्षा २५ पैसे
१०१. सत्संग महिमा स्वामी वेदानन्द तीर्थ ४० पैसे
१०२. वैदिक संध्या २० पैसे
१०३, वैदिक डायरी (१९७७) सजिल्द ६ रु०
१०३अ सत्यनारायण कथा ३० पैसे

## ईसाइयत सम्बन्धी हिन्दी साहित्य

१०४. पोप की सेना का भारत पर हमला २० पैसे
१०५. बाइबिल को चुनौती ३० "

## नवीन साहित्य

१०७. भाई परमानन्द : बनारसी जीवनी २)
१०८. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश—स्वामी सत्यानन्द लिखित सजिल्द ८) अजिल्द ६)
१०९. बाल सत्यार्थ प्रकाश (स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती) २)५०
११०. स्वामी स्वर्णपथ जगदीश्वरानन्द सरस्वती १)५०
१११. धरती का स्वर्ग: गृहस्थाश्रम पं० शिवकुमार शास्त्री M. P. १)५०
११२. उपदेश मंजरी (स्वामी दयानन्द सरस्वती) मूल्य २)
११३. आर्याभिविनय (काव्यमय व्याख्या) १)५०
११४. महान् दयानन्द (पं० शिवदयालु जी) १)५०
११५. प्रभु के चरणों में—पं० हरिशरण सिद्धांतालंकार १)५०
११६. आदर्श परिवार ६० पैसे
११७. धर्मसारा स्व० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय १)
११८. वैदिक धर्म ही क्यों? महात्मा नारायण स्वामी १)४०
११९. आर्यसमाज के आधार स्वामी सत्यानन्द जी १)५०
१२०. महर्षि दयानन्द का ऐक्यवाद—राजेन्द्र जिज्ञासु ५० पैसे
१२१. दयानन्द चित्र दर्शन : सचित्र सजिल्द एलबम . ५ रंगों में छपा २०)
१२२. वेदाञ्जली— वैदिक विनय के तीनों भाग १५)
१२३. गीताभाष्य—पं० आर्यमुनि जी १५)
१२४. महर्षि दयानन्द के ऐतिहासिक संस्मरण १)

## कमीशन के नियम

१. २५) तक के साहित्य पर कमीशन नहीं दिया जाएगा।
२. २६) से ५०) तक के साहित्य पर १० प्रतिशत कमीशन।
३. ५१) से १००) तक २० प्रतिशत
४. १०१) से अधिक पर २५ प्रतिशत

आदेश का १।४ धन अग्रिम भेजें।

रेलवे स्टेशन लिखें : प्रेषण रेल डाक आदि व्यय पृथक

जन-ज्ञान (साप्ताहिक) के सदस्य बनिये
वार्षिक मूल्य २०) आजीवन २०१)
नमूना पत्र लिखकर मंगाएं

चितौड़ का कीर्ति स्तंभ

मुद्रक— प्रकाशक— संपादक—-पं० राकेश रानी द्वारा भाटिया प्रेस दिल्ली में छपा

जन-ज्ञान (मासिक)
१५९७ हरध्यान सिंह मार्ग
करौल बाग, नई दिल्ली-५
दूरभाष : ५६६६३९
२०१५८४

D.A.V.P. से स्वीकृत
अक्टूबर १९७६
कार्तिक २०३३

रजि० न०
डी०—(सी०) २०१
R.N.No. 107119/65

दीपमाला के दिन : ज्योति जली और बुझ गयी